पुस्तक

अमर-आलोक

प्रवचनकार

उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादक :

शरत्कुमार 'साधक'

सतीशकुमार

प्रथम प्रवेश

१ जुलाई, १९६४

मूल्य

एक रुपया, पच्चीस नए पैसे

प्रकाशक

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

मुद्रक

प्रेम प्रिन्टिंग प्रेस,

राजामण्डी, आगरा

प्रकाशकीय

'अमर-आलोक' का नया प्रकाशन अपने प्रेमी पाठको के कर-कमलो मे अर्पित करके हमे महान् हर्ष होता है। पुस्तक मे जिन प्रवचनो का सकलन और सम्पादन किया गया है, वे सब अलवर वर्षावास के हैं। कुछ प्रवचनो का प्रकाशन 'श्री अमर-भारती' मे भी हो चुका है। सभी प्रवचन सुन्दर, मधुर और मनोहर हैं। इनमे जीवन का रहस्य भरा है।

प्रस्तुत पुस्तक का सम्पादन श्री शरत्कुमार जी 'साधक' और श्री सतीशकुमार जी ने किया है। सम्पादन बहुत सुन्दर हुआ है।

आशा है, पाठक 'अमर-आलोक' का स्वाध्याय करके जीवन-विकास के लिए इससे मधुर प्रेरणा ग्रहण करेंगे।

मन्त्री

सोनाराम जैन

सन्मति ज्ञानपीठ

पारचय-रखा

१

सर्वोदय की व्यापक-भावना

"सर्वापदामन्तकर निरन्त
सर्वोदय तीर्थमिद तवैव ।"

आज से करीव पन्द्रह सौ वर्ष पहले भगवान महावीर के चरणो मे अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने उक्त पद्य की रचना की थी। इस रचना में उन्होने भक्ति तथा समर्पण के साथ-साथ दर्शन और धर्म का विवेचन भी कर दिया। इस विवेचन मे उन्होने जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह एक अद्भुत शब्द है। वह शब्द है—सर्वोदय। आचार्य समन्तभद्र ने कहा—आपका तीर्थ —आपका शासन—आपका उपदेश—सर्वोदय के लिए है, सव के कल्याण के लिए है। यह सर्वोदय तीर्थ कैसा है ? "सर्वापदामन्तकर" अर्थात् समन्त आपदाओ का अन्त करने वाला है। "निरन्त" अर्थात् जिसका कही अन्त नही है। ये दो विशेषण वहुत ही गहरी विचारधारा व्यक्त करते है। वह सिद्धान्त या वह उपदेश कोई महत्व नही रखता, जो किसी अमुक वर्ग के कल्याण के लिए हो। सच्चा उपदेश तो वही है, जिसमे सारे विश्व के लिए कल्याण की वात छिपी हो।

सुख-दुःख को बांटे

आज यह सर्वोदय शब्द काफी प्रचलित हो गया है। किन्तु यह शब्द बहुत पुराना है। भारतीय चिन्तन की प्रधानधारा सर्वोदय मूलक ही रही है। सब का उदय ही इस चिन्तन की सब से बडी विशेषता है। सब के उदय का अर्थ यही है कि कोई भी सुख किसी एक व्यक्ति या वर्ग के लिए न होकर सब के लिए हो। सुख दुःख सामाजिक है। इसलिए समाज का प्रत्येक व्यक्ति हर किसी व्यक्ति का सुख और दुःख बांट ले, यह आवश्यक है। जब तक समाज मे एक भी मानव अभावग्रस्त है, भूखा है, दुःखी है, तब तक चाहे समाज के किसी एक व्यक्ति के पास या किसी एक वर्ग के पास कितना भी धन हो, वैभव हो, सपन्नता हो वह सर्वोदय नही हुआ। जब तक सर्वोदय नही होगा तब तक भारतीय विचारो का ठीक-ठीक मूल्याकन और आदर भी नही होगा। कुछ लोग ऐसा मानते है कि सबका सुख एक साथ सभव नही है। पर इस मान्यता को हम भारतीय मान्यता नही कह सकते। भारतीय मान्यता तो दृढतापूर्वक यही कहती है कि व्यक्ति, वर्ग या जाति के सुख मे दूसरे व्यक्ति, वर्ग या जाति का सुख भी निहित रहना चाहिए। यदि एक वर्ग के कारण दूसरे वर्ग का शोषण होता हो, तो वह सुख-सुख नहीं है। यही बात राष्ट्र के लिए भी है। एक राष्ट्र की समृद्धि दूसरे राष्ट्र के शोषण या अभाव के आधार पर खडी नही होनी चाहिए। प्रकाश को अपने साम्राज्य का महल अन्धकार की नींव पर खडा करते किसी ने नहीं देखा। क्या प्रकाश अन्धकार को अपना आधार बना सकता है ? नहीं। तब

शोषण के आधार पर सुख कैसे खडा रहेगा ? अन्धकार और प्रकाश का जीवन मे कोई मेल नही है। या तो प्रकाश ही रहेगा, या अन्धकार ही। दोनो का अस्तित्व एक जगह खडा नही किया जा सकता। किसी की समृद्धि का महल किसी के शोषण पर यदि खडा होता है, तो आश्चर्य के साथ यह मानने को वाध्य होना पडेगा कि अन्धकार पर प्रकाश खडा हो रहा है।

भेद-भाव वन्द करो

समस्त विश्व की आत्माएँ एक समान है। चाहे कोई भी धर्म हो, सव धर्मो ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि समस्त प्राणियो मे एक ही जैसी चेतना शक्ति होती है ! जव एक ही तरह की ये अनन्त आत्माए हैं, तो उनमे एक आत्मा वाला नौकर हो, दूसरी आत्मा वाला मालिक हो। एक गुलाम हो, दूसरा अधिकारी हो, यह सव कैसे चल सकता है ? इसलिए जो अपना हित चाहता है, उसे पहले दूसरे का हित करना चाहिए। जो स्वय सुख चाहता है, उसे दूसरे को सुख देना चाहिए। दूसरो की उन्नति मे ही अपना हित सघ सकता है। जव सर्वोदय की यह व्यापक भावना मनुष्य के मन मे वैठ जाएगी, तो जाति के वन्धन, वर्गो के वन्धन, प्रान्तो के वन्धन और राष्ट्रो के वन्धन अपने आप टूट जाएगे। फिर मनुष्य विश्व-मानुष वनने की ओर प्रवृत्त होगा। वह सोचेगा—

"सव्वे जीवावि इच्छन्ति जीविउ न मरिज्जिउ"

ससार के समस्त प्राणी जीना चाहते है। कोई मरना नही चाहता। इसलिए किसी को मारने का प्रयत्न मत करो। किसी

को सताओ मत । किसी को कष्ट न पहुंचाओ । किसी से नफरत मत करो। घृणा का भाव मत फैलाओ। जहाँ क्लेश, नफरत और घृणा है, वही हिंसा है, वही पाप है वही नरक है। यदि इस नरक से छुटकारा पाना है, तो सब से प्रेम करो। अज्ञान से अज्ञान नही मिटता। दुःख से दुःख दूर नही होता। अन्धकार से अन्धकार भागता नही। ज्ञान से अज्ञान मिटता है, सुख से दुःख पराजित होता है, प्रकाश से अन्धकार भागता है। इसलिए यदि इस पाप और नरक को समाप्त करना है, तो प्रेम करो। प्रेम ही महान् धर्म है। प्रेम ही जीवन का अखड सत्य है। घृणा को मिटाए बिना प्रेम का विस्तार नही हो सकता। फिर चाहे वह व्यक्ति की व्यक्ति से घृणा हो, एक जाति की दूसरी जाति से घृणा हो या एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के प्रति घृणा हो।

दिव्य विचारो का आचरण ही देवत्व है

मैं जिस भारतीय शक्ति का वर्णन कर रहा था, वह प्रेम की ही शक्ति है। वह प्रेम किसी एक से नहीं केवल बच्चो से और परिवार से भी नही, केवल जाति और प्रान्त से भी नही, केवल धर्म और राष्ट्र से भी नही, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करना, सम्पूर्ण जगत के कल्याण के लिए प्रयत्न करना, सर्वोदय का लक्ष्य प्राप्त करने की कोशिश करना ही सच्चा प्रेम है। जब आकाश मे सूर्य अपनी हजार-हजार किरणे फैलाता हुआ आता है, तब वह धरती के कण-कण को प्रकाशित करता है। वह यह नही सोचता कि केवल ऊँचे महलो पर ही मैं प्रकाश फैलाऊँ, सुनहले गुम्बदो और सगमरमर के स्तम्भो पर ही आलोक बिखराऊँ।

यह गन्दी घास-फूस की झोपडी है, अथवा चाडाल का घर है, इसलिए यहाँ अपनी किरणे न पसारूँ। यदि सूर्य ऐसा सोचने लगे, तब वह सूर्य ही नही रह जाएगा, उसका विराट तत्त्व ही नष्ट हो जाएगा। क्योकि जो जितना अधिक विराट होता है, वह उतना ही सर्व-सुलभ और समस्त ससार का कल्याण करने वाला होता है। विराटता के कारण ही सूर्य को देवता माना जाता है। शास्त्रकारो ने सूर्य को देवता माना है। वह इसीलिए कि उसमे सर्वोदय की भावना है। वह किसी अमुक मर्यादा मे ही प्रकाश नही फैलाता। वह तो सारे विश्व को प्रकाशित करता है। सूर्य को देवता केवल इसलिए नही माना गया कि वह स्वर्ग नाम के अमुक स्थान मे रहता है आनन्दपूर्वक जीवन गुजारता है, भोगोपभोग करता है इत्यादि। पर उसे देवता इसलिए कहा है कि वह दिव्य है। ससार के साधारण व्यक्तियो की भूमिका से उसकी ऊँची भूमिका है। वह विना किसी भेद-भाव के अत्यन्त नियमितता और सातत्य के साथ अपना कर्तव्य पूरा करता है। यदि मनुष्य शरीर मे भी कोई व्यक्ति इसी तरह दिव्य दृष्टि से काम ले, तो वह भी देवता वन सकता है।

केवल दिव्य विचारो के होने मात्र से ही देवत्व प्राप्त नही हो सकता। केवल वडी-वडी वाते सोचना, और स्वर्ग के सिद्धान्तो को नापते रहना, सत्य-अहिंसा की ऊँची-ऊँची वातो पर विचार करते रहना ही जीवन के लिए पर्याप्त नही है। उन दिव्य विचारो पर आचरण भी होना चाहिए। यदि आचरण मे ये विचार नही उतरते हैं, तो उन विचारो को केवल वुद्धि-विलास ही समझना

चाहिए। यह भी एक प्रकार का मनोरजन ही बन जाता है। जैसे सिनेमा मे दो-तीन घटे का मनोरजन हो जाता है, वैसे ही विचार-चर्चा और सत्सग का भी मनोरजन हो जाता है। अथवा गीता, पुराण आदि का स्वाध्याय भी एक विशेष प्रकार का मनोरजन ही बन जाता है। किन्तु जब इन दिव्य विचारो को दिव्य आचरण के रूप मे मनुष्य स्वीकार करता है, तभी वह देवता बन सकता है। फिर वह मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत ऊँचा उठ जाता है। वह केवल स्वय ही ऊँचा नही उठता, बल्कि दूसरे साथियो को भी ऊपर उठाने की कोशिश करता है। सूर्य मे भी यही विशेषता है। वह अपनी सेवाएँ बिना किसी भेद-भाव के ससार को अर्पित करता है। इसलिए वह महान् है। इसी तरह वायु को भी शास्त्रकारो ने देवता कहा है। वायु बिना किसी याचना के दुनिया के समस्त प्राणियो को जीवन देता है। वायु की दृष्टि मे महल और झोपडी का कोई अन्तर नही है। इसी तरह जिस व्यक्ति का विचार व्यापक और विराट बन गया है, वही दिव्य आलोक के प्रकाश मे आलोकित होता है। फिर यह आलोक किसी बन्द घेरे मे रुकना नही। यह आलोक उस पुष्प के समान है, जो खिलते ही सारे वातावरण मे सुगन्ध भर देता है। इसलिए ओ मानव! तुम अपने ऐश्वर्य को, अपने सुख को केवल अपने ही लिए सुरक्षित मत रखो। उसे विश्व के लिए अर्पित करो। यदि उसे बाटोगे, तो वह और अधिक तेजी के साथ वृद्धिगत होगा। तुम भी सुख का आनन्द लो और दूसरो को भी आनन्द लेने दो। सुख का द्वार सदा खुला रहना चाहिए। इसीलिए आचार्य समन्त-

भद्र की पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व कही हुई वाणी का आज भी चारो ओर प्रभाव है।

सर्व भोग्या वसुन्धरा

कुछ लोग कहते है कि "वीर भोग्या वसुन्धरा" अर्थात् यह पृथ्वी और यह राज्य उन बलशाली और प्रभावशाली लोगो के लिए है, जिनके हाथ मे दड-शक्ति है। पर यह विचार भारतीयता से कोसो दूर है। यह मानव समाज का सिद्धान्त नही, जगली सभ्यता का सिद्धान्त है। जगल का शेर जानता है कि मैं प्रत्येक प्राणी को पछाड दूँगा, मेरी गर्जना के सामने कोई टिक नही सकेगा, इसलिए मै ही इस जगल का राजा हूं। यह सिद्धान्त जगल मे चल सकता है। पर यदि इसी को मानव समाज के लिए लागू कर दिया जाए तो उचित नही होगा। जहाँ लाठी ही कानून है, वहाँ डाकुओ का और बदमाशो का ही राज्य हो सकता है। सभ्य समाज मे लाठी कानून नही हो सकते। पर दु ख तो इस बात का है कि जगली सभ्यता के बाद लाखो वर्षों तक यात्रा कर चुकने पर भी डडे की और लाठी की भाषा पर ही आज का मानव विश्वास करता है। यह विचार पशु की भूमिका से बहुत आगे नही है। जिसके पास शक्ति है, उसका कर्तव्य है, वह उस शक्ति का समाज की सेवा के लिए उपयोग करे। इसलिए यह वसुन्धरा वीर भोग्या नही, बल्कि सर्व भोग्या होनी चाहिए। जैसे घर के बच्चे को निर्बल होने के बावजूद प्यार दिया जाता है, पोषण दिया जाता है, खिलाया-पिलाया जाता है, उसी तरह समाज मे भी जो कमजोर है, छोटे है,

चाहिए । यह भी एक प्रकार का मनोरजन ही वन जाता है । जैसे सिनेमा मे दो-तीन घटे का मनोरजन हो जाता है, वैसे ही विचार-चर्चा और सत्सग का भी मनोरजन हो जाता है । अथवा गीता, पुराण आदि का स्वाध्याय भी एक विशेष प्रकार का मनोरजन ही वन जाता है । किन्तु जब इन दिव्य विचारो को दिव्य आचरण के रूप मे मनुष्य स्वीकार करता है, तभी वह देवता वन सकता है । फिर वह मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से वहुत ऊँचा उठ जाता है । वह केवल स्वय ही ऊँचा नही उठता, वल्कि दूसरे साथियो को भी ऊपर उठाने की कोशिश करता है । सूर्य मे भी यही विशेपता है । वह अपनी सेवाएँ विना किसी भेद-भाव के ससार को अर्पित करता है । इसलिए वह महान् है । इसी तरह वायु को भी शास्त्रकारो ने देवता कहा है । वायु विना किसी याचना के दुनिया के समस्त प्राणियो को जीवन देता है । वायु की दृष्टि मे महल और झोपडी का कोई अन्तर नही है । इसी तरह जिस व्यक्ति का विचार व्यापक और विराट वन गया है, वही दिव्य आलोक के प्रकाश से आलोकित होता है । फिर यह आलोक किसी वन्द घेरे मे रुकता नही । यह आलोक उस पुष्प के समान है, जो खिलते ही सारे वातावरण मे सुगन्ध भर देता है । इसलिए ओ मानव ! तुम अपने ऐश्वर्य को, अपने सुख को केवल अपने ही लिए सुरक्षित मत रखो । उसे विश्व के लिए अर्पित करो । यदि उसे वाटोगे, तो वह और अधिक तेजी के साथ वृद्धिगत होगा । तुम भी सुख का आनन्द लो और दूसरो को भी आनन्द लेने दो । सुख का द्वार सदा खुला रहना चाहिए । इसीलिए आचार्य समन्त-

भद्र की पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व कही हुई वाणी का आज भी चारो ओर प्रभाव है।

सर्व भोग्या वसुन्धरा

कुछ लोग कहते है कि "वीर भोग्या वसुन्धरा" अर्थात् यह पृथ्वी और यह राज्य उन बलशाली और प्रभावशाली लोगो के लिए है, जिनके हाथ मे दड-शक्ति है। पर यह विचार भारतीयता से कोसो दूर है। यह मानव समाज का सिद्धान्त नही, जगली सभ्यता का सिद्धान्त है। जगल का शेर जानता है कि मैं प्रत्येक प्राणी को पछाड दूँगा, मेरी गर्जना के सामने कोई टिक नही सकेगा, इसलिए मैं ही इस जगल का राजा हूँ। यह सिद्धान्त जगल मे चल सकता है। पर यदि इसी को मानव समाज के लिए लागू कर दिया जाए तो उचित नही होगा। जहाँ लाठी ही कानून है, वहाँ डाकुओ का और बदमाशो का ही राज्य हो सकता है। सभ्य समाज मे लाठी कानून नही हो सकते। पर दु ख तो इस बात का है कि जगली सभ्यता के बाद लाखो वर्षों तक यात्रा कर चुकने पर भी डडे की और लाठी की भाषा पर ही आज का मानव विश्वास करता है। यह विचार पशु की भूमिका से बहुत आगे नही है। जिसके पास शक्ति है, उसका कर्तव्य है, वह उस शक्ति का समाज की सेवा के लिए उपयोग करे। इसलिए यह वसुन्धरा वीर भोग्या नही, बल्कि सर्व भोग्या होनी चाहिए। जैसे घर के बच्चे को निर्बल होने के बावजूद प्यार दिया जाता है, पोषण दिया जाता है, खिलाया-पिलाया जाता है, उसी तरह समाज मे भी जो कमजोर हैं, छोटे है,

उन्हे पहले अधिकार मिलना चाहिए। जिस प्रकार एक परिवार मे एक बच्चा आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है, वैसे ही इस विराट मानव-समाज के परिवार मे प्रभावहीन और कमजोर व्यक्ति भी सामाजिक सरक्षण प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

बच्चे के लिए तो ऐसा कहा जा सकता है कि आगे चलकर वह मा-बाप की सेवा करेगा, पैसा कमाएगा, इत्यादि। लेकिन जब मा-बाप बूढ़े हो जाते हैं, उनमे पैसा कमाने की शक्ति नही रहती और उस हालत मे भी बीमारी के कारण बडे-बडे डाक्टर बुलाये जाते हैं तथा उनकी दवाइयो पर हजारो रुपये खर्च किये जाते हैं, तो क्या उस हालत मे भी उनसे कुछ अपेक्षा की जाती है ? नही। फिर भी परिवार के लोग उनकी सेवा करना अपना कर्तव्य मानते हैं। क्यो ? इसलिए कि यह मानवीय सभ्यता का आवश्यक अग है। मानव के हृदय मे प्रेम की ज्योति जलती रहती है। उसी प्रेम के कारण बूढे माँ-बाप की सेवा की जाती है। इसके सिवाय किसी दूसरे कारण की खोज कर सकना असभव है। दीपक से पूछो कि तुम क्यो जल रहे हो ? सूर्य से पूछो कि तुम क्यो चमक रहे हो ? इसी तरह इन्सान से भी पूछो कि तुम सेवा क्यो कर रहे हो ? इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही होता। यदि किसी दुखी को देख कर किसी के दिल मे सेवा के भाव नही उठते, तो वह इन्सास नही है। सेवा करना, जरूरत-मन्द की मदद करना, यही इन्सानियत है। इस इन्सानियत के भाव को, प्रेम और स्नेह की धारा को रुपये-पैसो से खरीदा नही जा सकता। सपूर्ण सृष्टि का वैभव एक तरफ और इन्सानियत

का भाव एक तरफ, फिर भी दोनो की कोई तुलना नही हो सकती। वह सारा वैभव नगण्य है, उस इन्सानियत के सामने। सम्राट् श्रेणिक विचार कर रहे है कि नरक का बन्धन किसी भी तरह छूट जाए। इसके लिए वे चाहे जितना मूल्य दे सकते है। भगवान महावीर से उन्होने पूछा कि भगवन्! मेरी नरक गति किसी भी कीमत पर टल जाए, ऐसा उपाय बताइए। मैं सर्वस्व देकर भी नरक की गति टालना चाहता हूँ। तब भगवान् ने कहा कि श्रेणिक! एक साधक दो घडी के लिए प्राणि मात्र के साथ अपनी सहानुभूति और करुणा का भाव जोड कर बैठ जाता है, समभाव मे लीन हो जाता है। उसकी उस दो घडी की सामायिक भावना के सामने सारे ससार का ऐश्वर्य फीका है। दो घडी की वह साधना तो खरीदी जा ही नही सकती। किन्तु उसकी दलाली भी प्राप्त नही की जा सकती। कितनी बडी बात कही भगवान महावीर ने। हृदयस्थ करुणा और प्रेम के विचार को कितना महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

राजा का हृदय बदला

एक राजा नास्तिक था। उसका यह विचार था कि सारे ससार का ऐश्वर्य मेरे ही लिए है। मेरे सुखोपभोग मे कोई दखल नही दे सकता। उसकी यह भावना छूत के रोग की तरह सारे राज्य मे व्याप्त हो जाती है। उसके राज्य मे अन्याय-अत्याचार को बढावा मिल जाता है। उसे बडे-बडे ज्ञानी मिले, उन्होंने उपदेश सुनाए। किन्तु ज्यो-ज्यो उसने उपदेश सुने, त्यो-त्यो अहकार भी बढता गया। उसने अपने दरबार मे से बडे-बडे विद्वानो

को निकाल दिया, तिरस्कृत कर दिया। एक दिन शिकार के लिए एक राजा जगल मे भटक रहा था। सूर्यास्त का समय हो गया। अन्धकार छाने लगा। राजा कही का कही रह गया। और वह जगल मे इधर-उधर भटकता रहा। उसे रास्ता नही मिल रहा था। आकाश मे घनघोर घटाए छाने लगी। मेघ गर्जने लगे। विजली कडकडाने लगी। थोडी देर वाद मूसलाधार वारिश भी होने लगी। वर्षा के साथ-साथ कभी-कभी ओले भी सर से टकराने लगे। जैसे वह किसी पशु पर वन्दूक मारता था, असहाय प्राणियो के जीवन के साथ खेल करता था और सोचता था कि वाह! मेरा निशाना कितना तेज है, ठीक वैसे ही अव उसके सिर पर ओले रूपी गोलियो की वौछार होने लगी। राजा कभी इधर और कभी उधर भागने की कोशिश करता है, पर कही मार्ग दीख नही पडता है। आखिर वह मूर्छित होकर गिर पडा। थोडी देर वाद वारिश वन्द हुई। आकाश साफ हुआ। राजा की चेतना वापिस लौटी। उसका शरीर काप रहा था। वह मृत्यु की गोद मे से निकलकर आया था। किन्तु इस गहन रात्रि मे कहा जाए? इधर-उधर भटकते-भटकते एक स्थान पर रोशनी दिखाई दी। राजा ने सोचा कि रोशनी है, तो वहां आदमी भी होना चाहिए। राजा झोपडी के दरवाजे तक पहुँचा। तमाम कपडे गीले हो चुके थे। सर्दी से शरीर ठिठुर रहा था। अग-अग काप रहा था। झोपडी के अन्दर एक किसान का परिवार था। किसान ने वाहर किसी के आने की आहट पाकर देखा और अन्दर आने के लिए इशारा किया। किसान ने कहा—"भाई वाहर सर्दी पड

रही है। वर्षा हो रही है। वहाँ क्यों खड़े हो ? अन्दर आओ। आग के पास बैठो। चले आओ भाई !" राजा ने जैसे ही ये शब्द सुने एक गभीर आश्वासन महसूस किया। राजा ने अपनी प्रशंसा के लम्बे-लम्बे गीत सुने थे। बहुत से विद्वानो ने श्लोक, कविता, छंद आदि के द्वारा राजा को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था। पर इस स्नेह भरे भाई शब्द को सुनकर उसे आज जो आनन्द मिला, वह आनन्द उसे अब तक नसीब नही हुआ था।

राजा आग के पास आकर बैठा। शिकारी की ड्रेस देखकर किसान ने पूछा, 'भाई, क्या यह भी कोई शिकार खेलने का समय है ? कितना भयानक मौसम है ? कैसी डरावनी हवा चल रही है ? इस समय तो तुम्हे अपने घर मे आग के पास बैठकर सुखपूर्वक समय गुजारना चाहिए था। पर खैर, कोई बात नही। लाओ, तुम्हारे कपडे निचोड कर सुखा दूँ। तुम्हारा शरीर काँप रहा है। तेल की मालिश कर दूँ। उसके बाद तुम रात भर यही सो जाना। कितनी सहानुभूति थी, इन बातो मे। राजा को किसान की मामूली खटिया पर भी ऐसी मीठी नीद आई, जैसे फूलो की शय्या पर भी नही आती थी। प्रातःकाल जब राजा उठा तो किसान ने बाजरे की बासी रोटियाँ और मीठा दही खिलाया। इन रोटियो मे वह स्वाद था, जो स्वाद विविध पकवानो और मिष्ठानो मे भी नही होता।

जब राजा जाने लगा तो किसान ने कहा, अच्छा भाई, जाना तो तुम्हे है ही, किन्तु फिर कभी इधर आओ तो इस गरीब की झोपडी को भूलना मत। तुम्हारे लिए यह दरवाजा सदा

खुला रहेगा। तुम अतिथि देवता हो। फिर कभी इस झोपडी को पवित्र करना। राजा अपनी राजधानी मे लौट आया। किसान के इस करुणा, प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से उसका हृदय एकदम बदल गया। किसान के मृदु व्यवहार ने वह असर किया, जो असर बडे-बडे ज्ञानी और विद्वानो के उपदेश से नही हुआ। राजा सोचने लगा कि एक व्यवहार तुम्हारा है और एक व्यवहार उस किसान का। यदि तुम्हारी तरह ससार बन जाता, तो आज क्या होता ? कोई दुःखी और अभावग्रस्त तुम्हारे दरवाजे पर पहुँचता तो उसकी क्या दशा होती ? उसे केवल धक्के और गालियाँ ही मिलती न ? यदि उस किसान के हृदय मे दया और करुणा का प्रकाश न होता, तो आज तुम कहाँ होते ? इसलिए इस ससार मे जो कुछ है, वह करुणा और स्नेह ही है।

यदि इस ससार मे जीना है, तो प्रेम और सहानुभूति का आधार लेना होगा। इन्ही सद्‌गुणो के द्वारा नफरत और घृणा पर विजय पाई जा सकती है। केवल अपना अभ्युदय, अपना सुख निरा स्वार्थ है। जो केवल अपनी कौम का सितारा ऊँचा उठा हुआ देखना चाहते हैं, या अपने राष्ट्र की समृद्धि का सूर्य चमकता हुआ देखना चाहते हैं, वे अज्ञान मे है। उनकी दृष्टि सकुचित है। युग-धर्म तो व्यापक और विशाल बनकर सोचने मे ही है। यह युग-धर्म सर्वोदय शब्द के द्वारा ठीक तरह से व्यक्त होता है। आज सर्वोदय शब्द का बहुत प्रचार हो रहा है। उसके पीछे जो पवित्र भावनाए हैं, उनका भी प्रचार हो रहा है। इस प्रकार का सर्वोदयमूलक कार्य करने वालो के प्रति मेरी शुभ-कामनाएँ है।



२

नारी और पुरुष समान हैं

ससार रूपी रथ के दो चक्र हैं एक पुरुष और दूसरा नारी

वदकिस्मती ने मध्य-युग मे नारी का महत्व मात्र इतना ही मान लिया गया कि वह घर मे रहे और पुरुष के लिए भोग की सामग्रियां उपलब्ध करे। पर यह गलत मूल्य आज के युग मे टूट रहा है। अब इस तरह की भावना नही चल सकती।

विवाह के निर्णय का प्रश्न

मैंने पिछले दिनो एक घटना सुनी—किसी एक लडके और लडकी के वीच मे विवाह की वात चली। लडका कालेज मे पढ रहा था। वह अपने आपको वहुत होशियार मानता था। उसने कहा कि मैं पहले लडकी को देखूंगा, वाद मे ही विवाह के सम्वन्ध मे निर्णय हो सकेगा। आज से कुछ वर्षो पहले तक यह परम्परा थी कि घर का नाई इधर-उधर जाता था, तो वह ध्यान मे रखता था कि अपने जजमान की लडकी या लडके का विवाह करना है। जहां कही उसे योग्य सम्वन्ध प्रतीत होता, वह वात-चीत कर लेता और दोनों तरफ के अभिभावकों को मिलाकर निर्णय कर देता। पर अब वह परम्परा लगभग समाप्त हो रही है। यह प्रगति का युग है। इस प्रगति के नशे मे लोग अपने

आपको तथा अपनी मर्यादाओ को भी कुछ कुछ भूलते जा रहे है। नारी जागरण का इतना फैलाव है फिर भी अभी तक पुरुप नारी पर अपने विचार लादना ही चाहता है। यह दुतरफी वात आजकल चल रही है। मेरा मानना है कि यह एक सक्रान्ति काल है। कुछ पुरानी मान्यताएँ टूट रही हैं, कुछ नई जुड रही हैं। इसके साथ पुरानी परम्पराओ के कुछ गुण नष्ट हो रहे हैं और नई सभ्यता के गुण भी समाविष्ट हो रहे हैं। पुरानी परम्परा के अनुसार जो विवाह तय होते थे—वे नाई, पुरोहित या मां-वाप मिलकर लडके और लडकी का जीवन सुखमय हो, इमी दृष्टि को प्रधानता देकर होते थे। पर उस परम्परा मे सव-से-वडा दोष यह घुस आया कि मां-वाप को भी धन का मोह सताने लगा। वे लडके-लडकियो को वाजार भाव से वेचने लगे। दहेज कितना मिलेगा ? मोटर मिलेगी या नही ? विदेश जाने का खर्च मिलेगा या नही ? आदि ऐमे ही प्रश्नो पर शादियां तय होने लगी। यह दोप आज भी जारी है। आज भी समाज मे ऐसी अनेक लडकियाँ होगी, जो धनाभाव के कारण योग्य वर प्राप्त नही कर पा रही है। यह समाज के लिए वहुत ही चिन्ता और दु:ख की वात है।

नई परम्परा के अनुसार लडके और लडकियां एक-दूसरे को देखकर अपनी शादी का निर्णय करते हैं। उस समय वे अपने जीवन के वारे मे पूरा न सोचकर सौन्दर्य, फैशन आदि को ही प्रधानता दे देते है। ये दोनो ही स्थितियाँ ठीक नही है। चाहे पुरोहित या मां-वाप निर्णय करे या स्वय लडके-लडकी देखकर

निर्णय करे, पर निर्णय करते समय पूरे जीवन को मद्दे-नजर रखना चाहिए। विवेक जागृत रहेगा तो किसी भी हालत मे परेशानी नही होगी। मैं जिस प्रसग की चर्चा कर रहा हूँ, वह एक बहुत ही दिलचस्प प्रसग है। लडके की इच्छानुसार यह तय हुआ कि वह लडकी के घर जाए और उससे बातचीत करके विवाह के सम्बन्ध मे निर्णय करे। लडका पहुंचा। उसने अपनी भावी दुल्हन की परीक्षा लेने के लिए पूछा—

'क्या तुम पढी-लिखी हो ?'

'जी, हूँ।'

'गाना-बजाना आता है ?'

'जी, आता है।'

'भोजन पकाना आता है ?'

'जी, वह भी आता है।'

'मिठाइयाँ वगैरा बना सकती हो ?'

'जी, बना सकती हूँ।'

इस बातचीत से लडकी के मन पर कुछ विचित्र-सा असर हुआ। लडकी स्वाभिमानी थी। यदि उसे कोई बाजार की चीज बनाकर तोले तो उसके स्वाभिमान पर आघात लगना स्वाभाविक ही था। लडकी ने कहा—

"क्या आपके सब प्रश्न पूरे हो गये ? मैं आपको पसन्द आई ? क्या अब मैं भी कोई सवाल पूछ सकती हूँ ?"

लडके ने उत्तर दिया—'मेरे सब सवाल पूरे हो गए। तुम मुझे पसद हो। अब तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझे पूछ सकती हो।"

लडकीने पूछा— 'मेरे गाने बजाने का तो तब मालूम होगा, जब सितार और वीणा मेरे सामने प्रस्तुत होगी। इसी तरह मिठाइयाँ बनाने का भी तब मालूम होगा, जब मिठाइयो का सामन मेरे सामने आएगा। सीने-पिरोने का भी तभी मालूम होगा, जब कपडे और मशीन उपलब्ध होगी। पर मैं आपसे जानना चाहती हूँ कि क्या गाने-बजाने का, सीने-पिरोने का, खाने-पकाने का सामान एकत्रित कर सकने की क्षमता आप मे है? बस मेरा यह एक ही प्रश्न है ?"

लडके को काटो तो खून नही। वह कालेज मे पढने वाला विद्यार्थी यह कैसे कहे कि ये सब सामग्रियाँ कमाने और उपलब्ध करने की क्षमता मुझ मे है। आखिर उसे कहना पडा कि—"अभी तो मैं पढ ही रहा हूँ। साल भर बाद एम० ए० करूँगा। दुनियाँ के बाजार मे मेरी कीमत लगेगी। मुझे कही नौकरी ढूंढनी होगी। जब मुझे नौकरी मिलेगी, तब ये सारी सामग्रियाँ उपलब्ध हो सकेंगी।"

लडकी ने कहा—"मुझे आपके इस उत्तर के बारे मे कुछ नही कहना है। मुझे केवल इतना ही कहना है कि आप कृपा करके किसी दूसरी लडकी को ढूंढिए। भले ही आपने मुझे पसन्द किया हो, पर मुझे आप पसन्द नही हैं।"

यह एक घटना है। इस सारी घटना से हम यहाँ केवल इतना ही समझना और समझाना चाहते है कि आज का युग किधर जा रहा है ? हर मोड पर विवेक का अभाव है। या तो माँ-बाप लोभ के चक्कर मे आ जाते हैं या लडके-लडकियाँ फैशन के

चक्कर मे आ जाती हैं या वासनाएँ उनके जीवन को विनष्ट कर देती हैं। पर अब किसी स्वस्थ परम्परा का निर्माण होना चाहिए। लडकी ने लडके को जो उत्तर दिया, वह उसकी वीरता का द्योतक है। यह उत्तर इस बात का प्रमाण है कि नारी मे भी शक्ति होती है, तेज होता है, केवल उसे अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता है, उसे स्वस्थ दिशा-निर्देश करने की आवश्यकता है।

स्त्री की तेजस्विता का नमूना

स्त्री की तेजस्विता प्राचीन-युग मे भी कितनी ही बार प्रकट हुई है। शकराचार्य जैसे महान् विद्वान् को मडन मिश्र की पत्नी के सामने अपनी अजस्र तर्कणा शक्ति का प्रवाह रोक देना पडा था। मडन मिश्र ऐसे थे, जिनके सामने भारतवर्ष के दिग्दिगन्त के विद्वान् आते थे और श्रद्धा से नतमस्तक होते थे। जब विद्वान् गांव के वाहर कुएँ पर पूछते कि मडन मिश्र का घर कहाँ है ? तो पनिहारिनें आश्चर्य से घूरने लगती थी। वे कहती थी कि क्या मडन मिश्र का भी घर वताने की आवश्यकता है ? वस उनके घर की सीधी-सी पहचान है —

"जगद्ध्र ुव स्या जगदध्र ुव वा कीरागना यत्र गिर गिरन्ति।
द्वारस्थ नीडान्तर-सन्निरुद्धा अवैहि तन् मडनपडितौक ।"

जिस घर के द्वार पर वन्द पिंजरे मे तोता और मैना शास्त्रार्थ कर रहे हो कि जगद् नित्य है या अनित्य है, या क्या है ? समझो कि वही मडन मिश्र का घर है। श्री शकराचार्य भी उनकी ख्याति सुनकर एक वार विचार मे पड गए कि ऐसा भी क्या अद्भुत

विद्वान् है वह ? आखिर मडन मिश्र से शास्त्रार्थ करने के लिए शकराचार्य पहुँच ही गए। यह निर्णय हुआ कि शास्त्रार्थ मे जो भी हारेगा, वह विजयी का शिष्यत्व स्वीकारेगा। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। तर्क और युक्तियो की बौछार होने लगी। दोनो ओर से समान प्रभावशाली तर्क उपस्थित किए जाते रहे। शास्त्रार्थ होते-होते किसी एक विषय मे मडन मिश्र निरुत्तर हो गए। उन्होने अपनी पराजय स्वीकार की। शकराचार्य का शिष्यत्व स्वीकार करने जा ही रहे थे कि उनकी पत्नी ने आचार्य शकर को चुनौती दी। शकराचार्य सोचने लगे कि मैंने इतने प्रतिष्ठित विद्वान् को पराजित कर दिया और अब यह नारी मुझे चुनौती दे रही है। उन्होने चुनौती स्वीकार कर ली। फिर शास्त्रार्थ शुरू हुआ। इस बार शकराचार्य का रास्ता और अधिक बीहड हो गया था। मडन मिश्र की पत्नी के सामने उनकी तर्कशक्ति छिन्न-भिन्न हो रही थी। उसे सहसा पराजित नही किया जा सका। आखिर शकराचार्य को छह महिने तक सोचने और विचार करने के लिए समय मांगना पडा। यह है एक स्त्री की प्रबल तेजस्विता का छोटा सा नमूना। पर पुरुष अपने स्वार्थ के कारण स्त्री की शक्ति को पहचानना नही चाहता।

अपेक्षा दृष्टि

स्त्री और पुरुष मे आत्मा की दृष्टि मे कोई भेद नही है। आध्यात्मिक साधना के लिए भी दोनो का समान अधिकार है। केवल देखने का नजरिया ही भिन्न-भिन्न होता है। भारतीय विचार-धारा किसी एक ही पक्ष का आग्रह नही रखती। "एक

सद् विप्रा वहुधा वदन्ति"—ऐसा शास्त्रकारो ने कहा है। एक ही सत्य को अनेक तरीको से कहा जा सकता है। सच तो यह है कि भाषा का कोई भी शब्द सत्य को पूरी तरह से न तो पकड सकता है और न व्यक्त ही कर सकता है। शब्द सत्य के चरणो का स्पर्श मात्र कर सकता है। इसलिए हमारे यहाँ एक आचार्य कुछ कहता है और दूसरा कुछ और ही कहता है। यह देखकर वहुत से लोग भ्रम मे पड जाते हैं और कहने लगते हैं कि उन आचार्यों के दिमाग सही नही थे। तभी तो ऐसी परस्पर विरोधी वातें कहते थे। क्योंकि सत्य तो सर्वत्र एक ही होना चाहिए। अलग-अलग वाते कही जा रही हैं, तो उनमे से कोई न कोई झूठा होना ही चाहिए। पर ऐसी वात नही है। मैं तो समझता हूँ कि यह वडे गौरव की चीज है। यदि सत्य सीमित होता, सकुचित होता, तव तो वह शब्दो मे गिरफ्तार किया जा सकता था या उसे हम किसी एक ही तरह से वयान कर सकते थे, किन्तु चूँकि सत्य सीमित नही है, सत्य अनन्त है, इसलिए उसे व्यक्त करने के प्रकार भी असीमित और अनन्त ही होने चाहिए। कोई पन्थ ऐसा नही है, और कोई शास्त्र ऐसा नही है, जो कह सके कि सारे सत्य मेरी पकड मे आ गए हैं। सत्य अमृत का सागर है। पन्थ और शास्त्र छोटे-छोटे घडे हैं। जिसका जैसा पात्र है, उसमे वैसा ही रूप उस अमृत का दीख पडेगा। पर सारा सागर तो उस पात्र मे समा नही सकता न? इसलिए इसमे तो गौरव की ही वात है कि असख्य भारतीय ऋषियों ने सत्य के अमृतमय सागर से घट भर-भर कर लोगो के घरो तक पहुंचाया। फिर

चाहे उसे किसी भी तरह से और किसी भी रूप में क्यों न पहुंचाया हो।

सत्य एक हिमालय है। कुछ लोग उसके पूरब में रहते हैं और कुछ उसके पश्चिम मे। पूरब वाले हिमालय के पूर्वी भाग को हिमालय कहते हैं और कुछ लोग उसके पश्चिमी भाग को। किसी ने हिमालय का पूर्वी भाग मे चित्र लिया, किसी ने उत्तरी भाग से चित्र ले लिया और किसी ने दक्षिणी भाग मे। वे चित्र आपस मे मिलते नही है। फिर भी यदि कोई कहे कि यह हिमालय का फोटो नही है, यदि एक ही हिमालय के ये फोटो होते तो आपस मे एक-दूसरे के समान ही होते। तो यह कहना उसका उचित नही माना जाएगा। इसी तरह एक ही सत्य के अनेक पथो और शास्त्रो मे जो अनेक रूप दीखते है, वे उस एक ही सत्य के पृथक्-पृथक् चित्र है। यद्यपि इन चित्रो से वास्तविक सत्य का पूरा फैसला नही हो सकता। उसके लिए अनन्त ज्ञान यानी केवल ज्ञान की आवश्यकता है, क्योकि अनन्त ही अनन्त का फैसला कर सकता है। ये सब ग्रन्थ और पन्थ सान्त हैं। अनन्त नही है। इसलिए उस अनन्त सत्य का फैसला उन ग्रथो और पथो से नही हो सकता।

इसलिए अपेक्षा दृष्टि को समझना चाहिए। यह अपेक्षा दृष्टि ही जीवन की सही दृष्टि दे सकती है। फिर स्त्री और पुरुष का भेद मिट जाएगा। सब आत्माएँ समान है, सबको विकास करने का समान अवसर मिलना चाहिए, सबको सामाजिक क्षेत्र मे

समान अधिकार मिलना चाहिए, इत्यादि विचार स्पष्टता से समझ मे आ जाएगे। आज नारी की जो उपेक्षा है, वह उपेक्षा वृत्ति मिट जाएगी।



जब तक पति और पत्नियां एक-दूसरे के लिए परस्पर मुक्ति-दाता बनना अंगीकार नहीं करते, तब तक संसार भर की धर्म पुस्तकें कुछ लाभ नहीं कर सकतीं।

सामाजिक जीवन की पहली शर्त त्याग है। और त्याग की पहली शर्त कर्त्तव्य-अनुभव।

पुरुष की अपेक्षा नारी अधिक बुद्धिमती होती है, क्योंकि वह जानती कम, पर समझती अधिक है।

३
शरीर ही सब कुछ नहीं है

शरीर क्षणभगुर है। शरीर से ममता छोडे विना कल्याण नही हो सकता। दो तरह की बुद्धियाँ होनी हैं। एक आत्म-बुद्धि और दूसरी देह-बुद्धि। यह देह-बुद्धि ही शारीरिक ममता और शारीरिक गर्व है। साधक के लिए देह-बुद्धि को छोडना बहुत आवश्यक बताया गया है। श्रमण-सस्कृति और ब्राह्मण-सस्कृति दोनो मे यही बात मिलती है कि देह बुद्धि का त्याग करो। क्यो कि मनुष्य के सबसे अधिक निकट शरीर ही है, इसलिए मनुष्य की सर्वाधिक ममता शरीर के प्रति रहती है। जब मन इस देह मे बन्द हो जाता है, तो मन के सकल्प भी अपने आप देह तक ही सीमित हो जाते हैं। और मानसिक सकल्पो के सीमित होने पर कर्म-शक्ति भी सीमित हो जाती है। जब इन्सान अपने हड्डी-मांस के शरीर मे सिमिट कर सकुचित बन जाता है, तब उसकी वृत्तियाँ बहुत ही क्षुद्र हो जाती है। जब तक जीवन विशाल रहता है, तब तक उसकी आत्म-चेतना जागृत रहती है। पर जब जीवन क्षुद्र बन जाता है, केवल देह-बुद्धि मे ही बँध जाता है, तब उसकी आत्म-चेतना मर जाती है। और सारा जीवन शरीर मे ही बन्द हो जाता है।

"कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोव चिट्ठई लव माणए।
एव मणुयाण जीविय समय गोयम! मा पमायए॥"

भगवान महावीर कहते हैं कि—"दूब पर स्थित ओस मोती के दाने की तरह चमकती है, पर सूरज का प्रकाश निकला, हवा का एक झोंका आया और ओस नीचे गिरते ही मिट्टी मे मिल जाती है।" ठीक मनुष्य का जीवन भी ऐसा ही है। वह कब तक चमकता रहेगा, इसका कोई पता नही। इसलिए साधक को क्षण मात्र भी प्रमाद नही करना चाहिए।

कर्ण की नसीहत

महाभारत मे आता है कि इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर कर्ण से दान मांगने आया। दान भी कवच और कुण्डल का। कवच और कुण्डल देने का अर्थ है—अपने जीवन को ही दे देना।

महाभारत मे कहा गया है कि—

"यह धन, ऐश्वर्य चचल हैं। इसका कोई ठिकाना नही है। कालचक्र के झोंको मे बडे-बडे साम्राज्य ढह गये। बडी-बडी जातियां समाप्त हो गई। इसलिए इस भौतिक सपत्ति की कोई स्थिति नही है।" ससार का इतिहास जन्म-मरण का इतिहास है। इस वास्तविकता को कर्ण ने ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र के सामने प्रस्तुत किया। कर्ण ने यह भी कहा कि वित्त तो चचल है ही, पर उससे भी अधिक चचल यह मन है। अन्दर जो सत्य का दीपक जल रहा है, वह न मालूम हवा के किस झोंके से बुझ जाए। इसी तरह जीवन भी चचल है। न मालूम यह सांस कब बन्द हो जाए। इसलिए हे ब्राह्मण, जल्दी हाथ फैलाओ और जो

माँगा है, सो ले लो। धर्म का कार्य करने मे विलम्ब करना अक्षम्य है।

कितनी गहरी सास्कृतिक ध्वनि और वैराग्य का राग इस कथन से निकलता है। भारतीय चिन्तन इस शरीर को, इस जीवन को और इस धन को क्षणभगुर समझता है। इस क्षणभगुरता को समझने से मन का धुँधलापन साफ हो जाता है। आँखों पर जो अभिमान का पर्दा है, वह फट जाता है। भोग-विलास के प्रति रही हुई आसक्ति चूर-चूर हो जाती है। शरीर से आत्मा को स्वतन्त्र करने की प्रेरणा मिलती है। इस सस्कृति से हमे यह समझने का अवसर मिलता है कि करने पर टालने लायक काम इस जीवन मे कोई नही है। जो कुछ करना है, आज ही करो, अभी ही करो। कर्म मे जुट जाओ।

पाडव जब वनवास मे थे, तब वे सूने जगल मे घूम रहे थे। यह इसका प्रमाण है कि आज का आत्यतिक सुख कल किस तरह महान् विपदा मे बदल जाता है। ये भौतिक सुख कितने क्षण-भगुर है। पाडवो का मन बलवान था, इसलिए उन्होने दुःख मे भी आनद माना। उन्होने सोचा कि ये सब जीवन मे चलने वाले ऐसे तूफान है जो तेज गति से आते है और उसी गति से चले भी जाते है।

युधिष्ठिर का आत्मज्ञान

एक बार एक सूने स्थान पर भीम को प्यास लगी, तो वे जल पीने गए। थोडी दूर स्वच्छ जल से भरा एक सरोवर था।

भीम ज्योही जल पीने को उद्यत हुए कि अचानक आवाज आई "ठहरो, पहले मेरे प्रश्न का उत्तर दो। मेरे प्रश्न का उत्तर दिए विना जल को छूने ही तुम पत्थर बन जाओगे।" अपने शरीर का गर्व रखने वाले, सोते-जागते युद्ध के स्वप्न देखने वाले भीम ने इस आवाज को सुनी-अनसुनी कर दी और कहा 'मूर्ख, तुम क्या प्रश्न पूछते हो ? मैं कुछ नही जानता। मैं पानी पी रहा हूं।' यक्ष ने एक बार और चेतावनी दी। पर जिसे अपने बल पर अभिमान होता है, वह दूसरे के अधिकार का ख्याल नही रखता। ज्योही भीम ने पानी को छुआ कि उनका वह विराट शरीर पहाड की चोटी की तरह गिर पडा। पीछे से युधिष्ठिर को चिन्ता हुई कि आखिर भीम को इतनी देर कैसे लगी ? उन्होने अर्जुन को पता लगाने भेजा। अर्जुन ने सरोवर पर जब भीम को मूर्छित देखा तो आश्चर्य मे डूब गए। बडे-बडे हाथियो को गेंद की तरह उछाल देने वाले महावली भीम की यह हालत ! खैर, पहले पानी पीलूं और फिर जाकर भाइयो को सूचना करूं। यह सोचकर ज्योही अर्जुन पानी के निकट आया कि फिर वही आवाज आई। अर्जुन को भी धनुष चलाने की अपनी शक्ति पर वडा नाज था। उसने कहा—ये तत्त्वज्ञान की वातें मैं नही जानता। मुझे प्यास लगी है। मैं पानी पीऊँगा ही।' ज्योही अर्जुन ने जल लेने को हाथ वढाया कि वे भी भीम की तरह डास खाकर धराशायी हो गए। जिस तरह भीम का अभिमान चकनाचूर हुआ, वैसे ही धनुष चलाने की शक्ति भी धरी रह गई। उधर युधिष्ठिर चिंतित हो उठे। उन्होने नकुल और सहदेव को

पता लगाने के लिए भेजा। नकुल और सहदेव सरोवर पर आए। उनको भी यक्ष की वही आवाज सुनाई दी। पर उन्होंने भी उधर कोई ध्यान नही दिया। फलस्वरूप अपने दोनों भाइयो की तरह ही उन्हे भी वहीं लेट जाना पडा। आखिर युधिष्ठिर विह्वल हो गए। उनकी समझ मे नही आ रहा था कि जाने वाला कोई भी क्यो नही लौट रहा है? वे स्वय उठे और परिस्थिति देखने आए। चारो भाइयो को इस तरह धराशायी पडे देखकर युधिष्ठिर चकित रह गए। युधिष्ठिर कुछ सोच ही रहे थे कि इतने मे वही आवाज उन्हे सुनाई दी। "पानी मत पीना! मेरे प्रश्नो का उत्तर दिए बिना पानी पिया तो तुम्हारी भी वही गति होगी, जो इन चारो की हुई है।" युधिष्ठिर सारी स्थिति को तुरन्त समझ गए। उन्होंने कहा कि—"यह कैसी बात कह रहे हो! जिसके चार भाई मूर्छित पडे हो, क्या उसे पानी पीने की सुध रहेगी? मालूम होता है तुम देव हो और सर्व सुलभ जल पर अपना अधिकार करके लोगो को कष्ट दे रहे हो। क्या किसी देवता के लिए ऐसा करना उचित है? भला, जल जैसी चीज पर भी अधिकार किया जा सकता है?" इस प्रकार युधिष्ठिर ने तत्व-चिंतन से भरी बातें कही। उनकी वाणी मे जोश था, बल था और भारतीय-संस्कृति का असर था। युधिष्ठिर ने यक्ष को बताया कि जल पर, अन्न पर तथा इसी तरह प्रकृति के तत्त्वो पर स्वामित्व बताने का किसी को भी अधिकार नही है। इन वस्तुओ पर इस सृष्टि के समस्त प्राणियो का अधिकार है। तुम जल पर अपना अधिकार जताते हो, यह तुम्हारी ममता है। यह सुनकर यक्ष ने कहा कि

यह तत्त्वज्ञान की चर्चा फिर करेंगे।" अभी तो मेरे प्रश्न का उत्तर दो : तुम्हारे भाइयो से मैंने यही कहा था, पर वे मेरे प्रश्न का उत्तर दिए विना जल पीना चाहते थे। इसीलिए मैंने उन्हे बेहोश किया। अब तुम्हे मेरे प्रश्न का उत्तर देना होगा।" युधिष्ठिर ने कहा— 'बोलो, तुम्हारा प्रश्न क्या है ?" यक्ष ने पूछा–'का वार्ता ?' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

"भूतानि काल पचतीति वार्ता।"

"हे यक्ष ! इस ससार मे काल ही ऐसा है, जो सारी सृष्टि को क्षीण करता है तथा उनमे परिवर्तन करता है। इसके अलावा और क्या बात हो सकती ? तुमने आज मेरे भाइयो को यहाँ मूर्छित किया है, किन्तु एक दिन इस काल के चक्र मे तुम्हे भी आना होगा। और उस लपेट मे तुम्हारा जीवन भी समाप्त हो जाएगा। यही बात है। इस ससार मे कोई अमर नही है।" यह गभीर उत्तर सुनकर यक्ष गद्गद हो गया। इस तरह का एक पूरा यक्ष सवाद महाभारत मे आता है। आखिर यक्ष प्रसन्न होकर चारो भाइयो को स्वस्थ कर देता है। कहने का सार यह है कि इस प्रश्न का उत्तर विना आत्म-शक्ति के और आत्म-चेतना के नहीं दिया जा सकता था। भीम और अर्जुन का बल जहाँ मात हो रह गया, शरीर के पौरुष ने कोई काम नही दिया, युधिष्ठिर ने आत्म-ज्ञान की बात कहकर यक्ष को चकित कर दिया। अत शरीर बल का गर्व न करके आत्मज्ञान को बढाना चाहिए। युधिष्ठिर ने कितनी महत्त्व की बात कही कि—"यह कालचक्र शरीर के बल तथा सौन्दर्य को मिट्टी मे मिला देता है।"

इन्द्र की प्रार्थना

भगवान महावीर जव जीवन की अन्तिम यात्रा पर चल रहे थे, लोग दूर-दूर से प्रभु के चरणो मे अन्तिम श्रद्धाजलि चढाने के लिए उमड-उमड कर आ रहे थे ; उमी समय इन्द्र भी महावीर के चरणो मे उपस्थित हुआ और निवेदन करने लगा कि—"भगवन् आपकी आयु ममाप्त होने को तो है, पर मेरी एक प्रार्थना है कि कुछ समय के लिए अपनी आयु और वढा लीजिए, ताकि उन हजारो भक्तो को आपके दर्शन मिल सकेंगे, जो वहुत दूर-दूर से आ रहे हैं।" महावीर ने उत्तर दिया—'न भूयो न भविस्सई।' "हे इन्द्र! ऐसा आज तक कभी नही हुआ और न अभी हो सकता है और न भविष्य मे ही हो सकेगा।" काल के प्रवाह को रोकने की शक्ति किसी भी महापुरुप मे नही है। शरीर क्षणभगुर है। वह मृत्यु से लडने मे समर्थ नही है। इसलिए आयु को लम्वी कर सकना सर्वथा असभव है। महावीर ने जव प्राण-त्याग किया, तव हजारो भक्त विना दर्शनो के रह गए। भला, अनन्त शक्तिशाली तीर्थङ्कर भी थोडे वक्त के लिए काल को नही रोक सके। इससे आसानी से समझा जा सकता है कि शरीर की क्या स्थिति है? ऐसे शरीर से ममता करना क्या अर्थ रखता है?

स्वामित्व बुरा है

मनुष्य ममता का घेरा डालकर अपने आपको वांध लेता है। इस उन्मुक्त विश्व को भी वांध लेता है। यह धरती अखड थी, पर मनुष्य की ममता और अहकार ने इस धरती के टुकडे-

टुकडे कर दिए। मन के टुकडे होने से सब चीजे खडित हो जाती हैं। इस जमीन के बटवारे के लिए खून बहाया जाता है। एक कहता है—यह मेरी सीमा है दूसरा कहता है यह मेरी सीमा है। तब बेचारी पृथ्वी भी मनुष्य की बेवकूफी पर हँसती है। वह सोचती है कि न जाने कितने लोग यहाँ आए। उन्होने मेरी छाती पर अपनी-अपनी सीमाओ के पत्थर गाडे, पर आज तक कोई जिन्दा न रहा। सीमा बाँधने वाले तो नष्ट हो गए, पर मैं वही का वही हूँ।

मनुष्य इस पृथ्वी पर, अन्न पर, नदियो पर एकाधिकार करना चाहता है। समुद्र और आकाश पर भी अधिकार करने के लिए आज का मनुष्य तैयार है। मगल लोक और चन्द्रलोक पर भी अधिकार करने की तैयारी चल रही है। वहाँ भी प्लाट बिकने शुरू हो गये है। पर वे नही सोचते कि जब इस धरती पर ही किसी का अधिकार नही रहा तो आकाश पर क्या अधिकार जम सकेगा ? पर मनुष्य सोचता है कि वह अमर है। और इसलिए जहाँ तक सभव हो, वह अपना अधिकार क्षेत्र व्यापक, विस्तृत कर ले। मन की यह ममता ही अधिकार की भावना को जन्म देती है, सीचती है। सच तो यह है कि यह शरीर ओस के बिन्दु की तरह क्षण-भगुर है। इसी तरह जो धन, ऐश्वर्य आदि है, वह भी मिट्टी के ढेले के समान है। न मालूम कब गिरकर फूट जाए। न जाने कितने धन, ऐश्वर्य, सत्ता और बल वाले पैदा हुए और नष्ट हो गए। इसलिए हमे उस परम सत्य की खोज करनी है जो कभी नष्ट नही होता।

जब तक इस दुनिया मे रहना है, तब तक इस शरीर मे भी रहना ही पडेगा। भारतीय धर्म और दर्शन यह नही कहता कि शरीर मे रहना नही है। पर शरीर मे ही सब कुछ भूल नही जाना चाहिए, अर्थात् शरीर की ममता मे पागल मत बनो। धन और ऐश्वर्य मे आसक्त मत बनो। यह मत चाहो कि सारे धन पर तुम्हारा ही एकाधिकार हो जाए। जैसे साप खजाने पर बैठ जाता है, तो न स्वय ही उस खजाने का उपयोग करता है और न दूसरो को करने देता है, ऐसी मनोवृत्ति मनुष्य की नही होनी चाहिए। यह विश्व एक विशाल सरोवर है। इसमे स्वय भी स्नान करो और दूसरो को भी करने का अवसर दो, अर्थात् खुद भी जीओ और दूसरो को भी जीने दो। किसी भी चीज के मालिक बनने की आकाक्षा रखना या उस पर एकाधिकार कर लेना बुरा है। इसी तरह प्रतिष्ठा पाकर भी अन्धे नही बन जाना चाहिए। यह धन, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, ससार के अधिकार मनुष्य को अन्धा बनाने के लिए नही होते। आत्म-ज्ञान की आँखे नित्य खुली हुई रहनी चाहिए।

अन्धे होकर मत चलो

बात कुछ पुरानी है। राजा ने पास बैठे मत्री से पूछा—"तुमने मेरे पिता को देखा है, उनकी राजनीति भी देखी है और वर्तमान राज्य को भी देख रहे हो। मेरा यह मानना है कि पिता जी से अधिक मेरे राज्यकाल मे लोग अच्छे और सुखी हैं।" राजा की यह अहकार भरी बात सुनकर मत्री चुप रहा। उसे चुप रहना

ही चाहिए था। राजा कुछ समय के लिए बिना बुद्धि का हो, तब भी चल सकता है। किन्तु मंत्री बिना बुद्धि के एक क्षण भी नही रह सकता। मंत्री राजा पर शासन करने वाला होता है। यदि मंत्री अपने कर्तव्य का ठीक पालन न करे तो राज्य और प्रजा दोनो को बरबाद कर सकता है। कुछ क्षण चुप रहकर मंत्री ने राजा से पूछा—"राजन्! आपने अपने साम्राज्य के लिए क्या-क्या किया है? आपके इर्द-गिर्द घूमने वाले चन्द लोग यदि सुखी है तो क्या वह समस्त राज्य के सुखी होने का प्रमाण है? महाराज, दुनिया बहुत बडी है। आप इस भव्य महल मे बैठकर सोच रहे हैं कि मेरे साम्राज्य मे लोग बहुत सुखी हैं पर पीडितो तथा दरिद्रो तक आपकी नजर नही पहुंची है। उस भिखारी की ओर देखिए जिसने फटे-चिथडे लपेट कर लज्जा को बचा रखा है। जिसका चेहरा मुरझाया हुआ है। जो हाथ फैला-फैलाकर अपनी भूख का इजहार कर रहा है। यह भिखारी भी तो आपकी ही प्रजा का एक अंग है। क्या इसे देखकर यह कहा जा सकता है कि आपकी प्रजा सुखी है?" राजा भिखारी को देखकर अवाक् रह गया। राजा ने कहा—"यह तो मेरी दृष्टि मे कभी नही आया।" यह कहते हुए राजा ने अपनी जेब से बहुत से सिक्के निकाले और जिधर से भिखारी आ रहा था, उसी रास्ते पर बिखेर दिए। राजा ने सोचा कि भिखारी आएगा और खुश होकर इनको बटोर लेगा। किन्तु देखना क्या है? भिखारी आया और 'भिक्षा दो' की आवाजे लगाता हुआ उनके ऊपर से निकल गया। उसने एक भी सिक्का नही उठाया। राजा को आश्चर्य हुआ। मंत्री की ओर

मुँह फरके उसने कहा—"यह तो कोई सन्त अथवा त्यागी मालूम होता है। जो इतने ऐश्वर्य को पैरो मे रौदता हुआ चला गया। रहस्य समझने के लिए राजा ने उस भिखारी को बुलवाया और पूछा कि क्या तुम कोई सन्त हो ? 'नही—महाराज, मैं तो एक दरिद्र भिखारी हूँ।' तो क्या तुम अधे हो ? 'नही—महाराज, मुझे तो सब ठीक सूझता है।' तो बताओ कि महल के नीचे मे गुजरते समय रास्ते पर तुमने कुछ देखा ?—'नही,महाराज सिवाय ककर पत्थर के वहाँ और कुछ नही था।' राजा ने तेजी मे आकर कहा—"अरे मूर्ख ! वहाँ कितना धन बिखारा पडा था। तुमने देखा क्यो नही ?" भिखारी को याद आया और उसने सच-सच बताते हुए कहा—'महाराज, उस समय मैं सोच रहा था कि यदि बुढापे मे मेरी आँखें खत्म हो जाएँगी, तो मेरी क्या हालत होगी ? इसलिए जरा आँखे मूद कर चलने का अभ्यास करूँ। यही सोचकर उस समय मैंने आँखें मूद ली। पैरो मे कुछ गडने पर मैंने सोचा—सभवत बच्चे ककरो से कुछ खेलते रहे होंगे। वे ही ककर मेरे पैरो मे गड रहे होगे।' यह सुनते ही राजा और मत्री ने माथा ठोक लिया।

जिसकी आँखें बन्द हो, वह तो भिखारी का भिखारी ही रहेगा। ससार मे सब कुछ है, हर मार्ग पर आनन्द ही आनन्द है। किन्तु जो अधा होकर चलेगा, उसे कुछ भी नही प्राप्त होगा। जो भौतिक नेत्र बद कर लेता है, वह जब इतने लाभ से वचित रह सकता है, तब भला जो ज्ञान-नेत्र बद करके चलता है, उसका क्या हाल होगा ? अहिसा, करुणा, सत्य जैसे सद्गुण

सर्वत्र बिखरे पडे है। उनमे से मनुष्य यदि एक भी उठा ले, तो कल्याण हो सकता है। किन्तु हेयोपादेय का ज्ञान भूलकर आंखे वन्द करके चलेगा, उसे कुछ भी नही मिलेगा। शारीरिक अभिमान और ममता के कारण ज्ञान-नेत्रो पर पर्दा पड जाता है। धन और ऐश्वर्य से ज्ञान-नेत्र चु धिया जाते हैं। फिर अच्छे और बुरे का भान नही रहता। इसलिए हर मनुष्य को अपनी आंखो पर से यह पर्दा हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। आंखें खोलकर देखने से पता चलेगा कि दूसरे भी मनुष्य हैं। दूसरो की भी आवश्यकताएँ है। दूसरे भी जीना चाहते हैं। भारतीय सस्कृति कहती है कि--'जीओ और जीने दो।' अपने मन को विशाल बनाओ। अपने देह की ममता छोडो। जब तक यह ममता नही छूटेगी, तव तक मनुष्य अपना कल्याण नही साध सकेगा।



४

सामाजिक जीवन का रूप

वह भी एक युग था, जब मानव नगर की सभ्यता मे नही आया था। वन की सभ्यता मे ही वह रह रहा था। वहाँ न राजा था, न प्रजा। सारा समुदाय प्रकृति की गोद मे जीवित था, मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी सीमित थी कि उनकी पूर्ति प्राकृतिक साधनो से ही हो जाती थी। मनुष्य का मनुष्य से द्वन्द्व भी नही होता था। जब आवश्यकताएँ बढ रही हो, फैलती हुई इच्छाओ का नियन्त्रण नही हो रहा हो और उन इच्छाओ के अनुपात मे सामग्रियाँ प्राप्त नही हो रही हो, तब वस्तुओ पर अधिकार करने का प्रश्न आता है। और यह अधिकार की भावना ही द्वन्द्व पैदा करती है। इन्सान से इन्सान टकराता है, फिर इस सघर्ष को मिटाने के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता होती है। उस समय चाहे उसे जगली सभ्यता का समय ही कहा जाए, अत्यन्त शान्तिमय और मगलमय वातावरण था। इन्सान मेहनत करता था और आनन्द से जीता था। पर जब इन्सान ने अपनी आवश्यकताओ का घेरा विस्तृत किया और जब उन आवश्यकताओ की पूर्ति के अनुपात मे प्राकृतिक उत्पादन कम होने लगा, तब नागरिक सभ्यता का आरम्भ हुआ। नागरिक सभ्यता के आरम्भ के साथ ही सघर्ष और द्वन्द्व का भी आरम्भ हुआ।

आदि-युग की समाज-व्यवस्था

जब आकाक्षाएँ बढती है, तब आदमी बहुत कुछ सग्रह करने की सोचता है। रोजमर्रा की खपत के सामान से वह सतुष्ट नही होता। वह सोचता है कि यदि अधिकाधिक वस्तुओ का सग्रह उसके पास रहेगा, तो वह भविष्य मे अपने आप को एव अपने परिवार को सुरक्षित रख सकेगा। इस भावना से सग्रह करने की वृत्ति का जन्म होता है। फिर येन-केन प्रकारेण आदमी सग्रह करने के लिए प्रयत्नशील होता है। सग्रह करने के साधन शुद्ध है या नही, इस बात की भी उसे चिन्ता नही रहती। इसी तरह की परिस्थिति का आरम्भ जिस युग मे हो रहा था, उसी युग मे भगवान् ऋषभदेव अवतरित हुए।

ऋषभदेव ने नागरिक सभ्यता को व्यवस्थित रूप दिया। उसका शास्त्रीय ढग से विकास किया। उनके कामो का और उनकी रचना-शक्ति का विशद विवरण वेदो और उपनिषदो मे भी प्राप्त होता है। उन्होने देखा कि समाज व्यवस्था की नयी बुनियादे डालने का यह समय है, उस नयी व्यवस्था की पद्धति से अनभिज्ञ मानव एक-दूसरे से सघर्ष कर रहे हैं, एक-दूसरे से टकरा रहे हैं, इसलिए मुझे नई समाज-व्यवस्था का वास्तविक रूप प्रगट करना चाहिए। अब इन्सान को केवल प्रकृति के भरोसे नही छोडा जा सकता। अब समाज की व्यवस्था मानवीय पुरुषार्थ के अधिष्ठान पर ही टिक सकेगी।

यह सोचकर ऋषभदेव समाज के सामने आए। उन्होने बताया कि—"ओ मानव! तुम्हारे हाथ केवल खाने के लिए नही

है, बल्कि खाने के वास्ते कमाने के लिए भी है। तुम्हारे पास हाथ है, इसलिये तुम भाग्यशाली हो। इन हाथो मे तुम मेहनत करो, समाज के साथ बाँटकर, प्रेमपूर्वक खाओ और दूसरो को कष्ट न पहुँचाते हुए आराम मे जीओ।" यह सारगर्भित सिद्धान्त ऋषभदेव ने प्रस्तुत किया। आज भी लोग हाथो का अधिक उपयोग खाने के लिए ही करते है। वे नही समझते कि यदि एक हाथ खाने के लिए है, तो दूसरा हाथ उत्पादन करने के लिए भी है। इतना ही नही, बल्कि दोनो हाथ कमाने के लिए है। एक हाथ का कमाया हुआ आदमी स्वय खाए और दूसरे हाथ की कमाई समाज को अर्पित कर दे। ऋग्वेद के महान् ऋषि ने कहा है कि—

"शत-हस्त समाहर सहस्र-हस्त सकिर।"

मनुष्य! तुम सौ हाथो से एकत्रित करो और फिर उस एकत्रित हुए ऐश्वर्य को हजार हाथो से बाँट दो। यदि तुममे बाँटने की क्षमता नही है, तो जो तुम सौ हाथो से ऐश्वर्य बटोर रहे हो, वह पाप ही बटोर रहे हो, पुण्य नही। इसका आशय यही है कि पुरुषार्थ करके जो व्यक्ति उत्पादन करता है, वह केवल अपने ही भोग के लिए नही होना चाहिए। उसमे समाज का भी हिस्सा है। खाना एक ही हाथ से चाहिए, पर कमाना दोनो हाथो से चाहिए। इसी विचार के प्रवर्त्तक भगवान् ऋषभदेव थे। उन्होने आध्यात्मिक समस्याओ को सुलझाने से पूर्व भौतिक समस्याओ को सुलझाया और शरीर द्वारा परिश्रम करने की शिक्षा दी। इसलिए वह पहले राजा हुए, पहले नेता हुए। नेता बनने के लिए जिस भूमिका की जरूरत होती है, उस भूमिका का पूरी तरह से निर्वाह करके

ऋषभदेव ने सारे समाज का नेतृत्व अपने हाथो मे ले लिया। ससार के समस्त महापुरुष इसी तरह चुपचाप समाज की सेवा करते हैं। और समाज उनको श्रद्धा के सिंहासन पर बैठाता है, उनकी पूजा करता है एव उन्हे नेता मान लेता है। जिसके हृदय मे उदारता का झरना बहता हो, जिसका जीवन सत्य, प्रेम और करुणा से ओत-प्रोत हो, जो अपने ऐश्वर्य को और अपनी सम्पत्ति को विश्व-हिताय अर्पित कर देता हो, वही महापुरुष समाज का नेतृत्व करता है और समाज भी उस को नेता मान लेता है।

गुण-विकास की साधना

मनुष्य के हर अग-प्रत्यग की तुलना कवियो और मनस्वियो ने कमल जैसे अत्यन्त सुन्दर, कोमल और मनोहर फूल के साथ की है। क्या हाथ, क्या पैर, क्या मुंह, क्या हृदय—सबको कर-कमल, चरण-कमल, मुख-कमल, हृदय-कमल इत्यादि रूपो मे कमल के साथ जोडा है। इनका आशय इतना ही है कि प्रकृति मे कमल का फूल, अपना गौरवपूर्ण स्थान रखता है। मनुष्य को भी इस ससार मे गौरवपूर्ण स्थान पाने के लिए कमल जैसा सुन्दर, कोमल और मनोहर बनना चाहिए। किसी के प्रति कठोरता का बर्ताव, द्वेष या घृणा का बर्ताव नही किया जाना चाहिए। हृदय से दया और सहानुभूति का स्रोत बहता रहना चाहिए। यदि हृदय मे सवेदना तथा सहानुभूति का भाव नहीं है, तो वह कमल नही, बल्कि कांटे जैसा है। इसी तरह हाथ कमल के गुण को दानी बनकर ही अपना सकता है। जब भी कोई जरूरतमन्द व्यक्ति आए तो पहले उसकी आवश्यकता पूरी करके अपनी चिन्ता करनी चाहिए।

हाथो की शोभा दान से है। एक वार वगाल के बहुत बड़े ऐश्वय-सम्पन्न विद्वान् श्री सतीशचन्द्र विद्याभूपण की माता के दर्शन करने के लिए एक व्यक्ति पहुँचा। सतीशचन्द्र विद्याभूपण की माताजी सोने के या रत्नो के आभूपण पहनने के बजाय हाथो मे पीतल के आभूपण पहने हुए थी। आगन्तुक आश्चर्यान्वित हुआ। उसने पूछा कि विद्याभूपणजी जैसे महान् ऐश्वर्यशाली पुत्र की माँ होने के बावजूद आपने हाथो मे पीतल के आभूपण क्यो पहन रखे हैं? विद्याभूषणजी की माताजी ने गभीरता पूर्वक कहा कि वेटा, हाथो की शोभा पीतल या सोने के आभूपण नही है। मेरे हाथो की शोभा तो इसमे है कि जब वगाल मे भयकर दुर्भिक्ष पडा, तब मैंने इन हाथो से वग के पुत्रो को मुक्त हस्त होकर खिलाया है। उन पुत्रो को प्रेमपूर्वक खिलाने के कारण मेरे हाथो की जो शोभा बढी, वह शोभा अधिक-से-अधिक कीमती आभूपणो के पहन लेने पर भी नही हो सकती है। यही वात भारतवर्ष के महान् सम्राट् और मनस्वी आत्मसाधक श्री भर्तृहरि ने भी कही है—

"श्रोत्र श्रुतेनैव न तु कुण्डलेन,
दानेन पाणि र्न तु कङ्कणेन।"

तुम कानो की शोभा के लिए कुण्डल पहनते हो। तुम्हे अपने कुण्डलो पर अभिमान है, किन्तु इन कानो की शोभा कुण्डलो से नही, वल्कि सन्त पुरुषो की वाणी सुनने से और अपने गुरुजनो की सद्शिक्षा ग्रहण करने से ही वढ सकती है। माता की प्रेमभरी वाणी और पिता का हितकारी आदेश सुनकर उल्लास प्राप्त करने मे ही इन कानो की शोभा है। इसी तरह इन हाथो की शोभा

रत्नजटित कगनो मे नही, वल्कि जरूरतमन्दो को दान देने से है। हम वहुत जगह देखते हैं कि धनी और ऐश्वर्यशाली लोग दान देते समय कतराने लगते हैं। एडी से चोटी तक सोने और आभूषणो से लदी रहने वाली सेठानियो के हाथ भी दान देते समय कांपने लगते हैं। यदि इन्सान का मन वडा नही वनता और उदारता की चमक नही आती, तो यह सब धन, ऐश्वर्य और आभूषण भी भारभूत ही वन जाते हैं। इसलिए भर्तृहरि ने कहा है कि हाथो की शोभा कगन से नही, वल्कि दान द्वारा अपने आपको कृतार्थ करने से ही है। इसी तरह इस शरीर की शोभा भी समाज की सेवा के लिए अर्पित हो जाने मे ही है। यदि मनुष्य अपने शरीर द्वारा सामाजिक सेवा का काम न करे, तो पशु के शरीर मे और उसके शरीर मे अन्तर ही क्या रह जाएगा ?

दमन, दया और दान

इन सब सिद्धान्तो का प्रतिपादन भगवान् ऋषभदेव ने किया। क्योकि नागरिक सभ्यता के लिए इन सिद्धान्तो की अनिवार्य आवश्यकता है। जब आदमी जगल मे रहता था, तब उसे न सेवा की जरूरत थी और न दान की। किन्तु जब कर्मभूमि का युग आया अर्थात् नागरिक सभ्यता का आरम्भ हुआ, तब नागरिक और सामाजिक सिद्धान्तो का प्रचलन भी आवश्यक हो गया। इन सिद्धान्तो के अभाव मे आदमी-आदमी से टकराता और सघर्ष करता था। भगवान् ऋषभदेव ने कहा कि—"अपनी आध्यात्मिक सपत्ति की प्राप्ति से पहिले भौतिक सपत्ति को भी प्राप्त करो। और उसका उपयोग तथा विनियोग केवल अपने लिए नही, वल्कि

पूरे समाज के लिए करो।" यदि मनुष्य दान और समर्पण की वृत्ति नही रखेगा, तो टिक नही सकेगा। ब्रह्मा के पास जब मनुष्य पहुँचा तो ब्रह्मा ने भी उसे दान करने का ही उपदेश दिया।

बात ऐसे हुई कि ब्रह्मा के पास देव, दानव और मनुष्य तीनो ही उपदेश प्राप्त करने के लिए एक साथ पहुँचे। ब्रह्मा ने "द" अक्षर का उच्चारण किया। उसे सुनकर तीनो ने अपने-अपने जीवन के अनुसार उसका अर्थ ग्रहण किया। देव भोगो मे आसक्त रहते हैं, इसलिए वह अपनी इन्द्रियो का दमन करें। दैत्य निरन्तर हिंसा और सहार मे आनद लेते हैं, इसलिए वे दया करे। और मनुष्य निरतर धन-सग्रह करने मे मशगुल रहते हैं, इसलिए वे दान करे। ऐसा उस 'द' अक्षर का अर्थ तीनों के सामने आया। यदि मनुष्य केवल सग्रह ही करता जाए, दान न करे, त्याग न करे, समाज के लिए अर्पण न करे, तो सारी सामाजिक व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाएगी। इसीलिए उपनिषद् के ऋषि ने कहा कि 'तेन त्यक्तेन भुजिथा" अर्थात् ओ मानव! तुम समाज का हिस्सा समाज को देकर ही भोग करो। यदि इस उपदेश को मानकर आदमी नही चलेगा, अपने मन पर वह नियत्रण नही रखेगा, तो उसकी मानवता का प्रभाव नही टिकेगा। मानव, देवत्व और दानवत्व का मिला-जुला रूप है। इसलिए मानव के लिए दान ही नही, बल्कि दया और दमन भी अनिवार्य है।

भोजन या भजन ?

किन्तु एक आदमी जिसे कल भी खाना नसीब नही हुआ, जो दरिद्र और भूखा है, जिसकी आँखो पर अँधेरा छा रहा है,

जिसे आज भी खाना मिलेगा या नहीं, मालूम नहीं है जिसके बच्चे और परिवार भी भूख से तड़फ रहे हैं, उसको यदि इन्द्रिय-दमन का उपदेश दिया जाए उसको कहा जाए कि उपवास का बहुत बड़ा महत्त्व है, इसलिए आपको उपवास करना चाहिए तो वह उपदेश भी बेकार ही होगा। उसके लिए तो उस वक्त भोजन ही सच्चा उपदेश है। भगवान् बुद्ध ध्यान-मग्न होकर बैठे थे। उस समय एक किसान जिसका बैल गुम हो गया था, वह उसको दिन भर तलाश करने के बाद निराश होकर वापस जाते समय बुद्ध के पास आया। बुद्ध ने पूछा—क्या बात है? बहुत थके हुए मालूम दे रहे हो? चेहरा और शरीर परेशान क्यों है? किसान ने उत्तर दिया—भगवन्! रात को बैल गुम हो गया। उसकी खोज मे दिन भर घूमता रहा। सुबह से अब तक कुछ भी खाने को नहीं मिला है। फिर भी मालूम हुआ कि आप आए हुए हैं, अतः यहाँ दर्शन करने आ गया। किस्मत मे लिखा होगा तो भोजन फिर भी मिल जाएगा। बुद्ध ने यह सुनकर आनद को बुलाया और पूछा कि सवेरे का लाया हुआ भोजन सारा चुक गया या कुछ बचा है? आनद ने कहा कि बचा हुआ है। बुद्ध ने कहा—जाओ और वह भोजन इस किसान को खिला दो। किसान ने भोजन करके स्वस्थता प्राप्त की। फिर बुद्ध ने उसे उपदेश दिया। उसे धर्म मे दीक्षित किया। किसान के जाने के पश्चात् आनद ने बुद्ध से पूछा - भगवन्! उसे आपने आरभ मे ही उपदेश क्यो नही दिया? बुद्ध ने उत्तर दिया कि—आनद, मैंने उसके आते ही तो उपदेश दिया था। पहले का उपदेश मैंने पहले

दिया और बाद का उपदेश बाद मे दिया। पहले उसको भूख लगी हुई थी, वह व्याकुल था, घबडाया हुआ था, परेशान था, इसलिए उस समय तो उसको रोटी के ही उपदेश की जरूरत थी। जब उसकी यह जरूरत पूरी हो गई, तब मैंने उसे धर्म का उपदेश दिया। उपदेश कोई ऐसी चीज नही है कि उसे पत्थर की भाँति कही भी फेंक दिया जाए। जो पहले ही पीडित हो, व्याकुल हो, भूखा हो—उसे उपवास करने का उपदेश देना व्यर्थ है। जो पहले से ही नगा हो, जिस बिचारे को चिथडा भी नसीब न होता हो, उसे सर्दी-गर्मी की तितिक्षा सहन करने के लिए उपदेश करना भी अनावश्यक ही है।

पहले भौतिक फिर आध्यात्मिक

इस तरह उपदेश का भी दृष्टिकोण सतुलित रखना चाहिए। आध्यात्मिक समृद्धि मे पहले भौतिक अभावो से निपट लेना भी आवश्यक होता है। इसीलिए भगवान् ऋषभदेव ने आध्यात्मिक समाज व्यवस्था का स्वरूप व्यक्त करने से पहले असि, मसि और कृषि के रूप मे भौतिक समाज-व्यवस्था का स्वरूप व्यक्त किया। उसी दृष्टि का विकसित परिणाम ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म, आदि के रूप मे जैन-शास्त्रो मे परिलक्षित होता है। मनुष्य को इन सभी दृष्टियो से अपने आपको परिपूर्ण बना लेना चाहिए। किन्तु आखिरी लक्ष्य आध्यात्मिक समृद्धि और आत्म-साधना ही है, यह कभी नही भूलना चाहिए। इसीलिए स्वय भगवान् ऋषभदेव भी इस सारी समाज-व्यवस्था का निरूपण करके नितान्त

आध्यात्मिक भावना में प्रवृत्त हो गए। हर मनुष्य को इसी तरह अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए आध्यात्मिक भावना का विचार स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।



५

आत्मौपम्य के सिद्धान्त की भूमिकाएँ

सस्कृत और प्राकृत मे जो भी भारतवर्ष का दार्शनिक साहित्य है—उसमे एक शब्द आता है और उस शब्द के ऊपर हमारा हजारो, लाखो, करोडो वर्षों का चिन्तन-मनन चलता आया है। वह शब्द है "आत्मौपम्य" अर्थात् हे आत्मा ! तू दूसरी आत्माओ को अपने ही समान समझ। यह मत समझ कि तू और है और दूसरी आत्माएँ और हैं। तेरा दुख और किस्म का है और दूसरो का दुख और किस्म का है। जैसा तुझे दुख होता है, वैसा ही दुख दूसरे प्राणियो को होता है। जैसी तुझे भूख लगती है, उसी प्रकार दूसरी आत्माओ को भी भूख लगती है। तेरा अपमान हो, कही पर तुझे तिरस्कार मिले और अभद्रता का व्यवहार मिले, उस समय जैसे तेरे मन का कण-कण विद्रोही हो उठता है, मन मे एक आग-सी लग जाती है, और वह आग तन-मन को जलाती रहती है, ठीक वैसे ही जब तेरे द्वारा दूसरो का अपमान होता है, जब तू अपने किसी अहकार मे या पापाचार के कारण दूसरे की आत्मा को कुचलता है, तो उसकी आत्मा भी विद्रोही हो जाती है।

साधना की प्रेरणा

इसी प्रकार सुख का प्रश्न है। क्या तू किसी दूसरी धातु का बना हुआ है कि केवल तुझे ही सुख चाहिए ? और दूसरे किसी अन्य धातु के तो बने हुए नही कि उन्हे सुख नही चाहिए ? तुझे जैसे नुख प्यारा है, वैसे ही ससार के समस्त प्राणियो को भी सुख प्यारा है। वे भी जीवन मे सुख देखना चाहते हैं। और सुख के वातावरण को देखकर उनके हृदय भी गद्‌गद हो उठते हैं। इसी भावना को लेकर दशवैकालिक-सूत्र मे गुरु-शिष्य का सवाद है। शिष्य पूछता है कि—"आपने यह साधना शुरू क्यो की ?" प्रत्युत्तर मे गुरु कहते हैं—'सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउ।" अर्थात् ससार के सभी प्राणियो को जीवन प्यारा है। जीने का सबको मोह है। जैसे हम जीना चाहते हैं, वैसे सब जीना चाहते है। इसी एक वाक्य ने हमे साधना के लिए प्रेरित किया है। और हम साधना कर रहे हैं। यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त भारतीय सस्कृति मे गहराई से फूटा है। आज इस बात मे कोई मतभेद नही है।

भ० महावीर से एक प्रश्न किया गया—'भगवन् ! जीवन मे सर्वत्र पाप ही पाप है। जिधर नज़र पडती है, उधर पाप ही पाप दिखाई देता है। और ऐसा लगता है कि पाप से मुक्त नही हुआ जा सकता। साधक दुकान जाता है, दफ्तर जाता है, या कही भी जाता है, तो ऐसा मालूम होता है कि सर्वत्र पाप घेरे खडा है। ऐसी हालत मे वह चकरा जाता है और सोचने लगता है कि इन पापो

से मुक्त हुआ जा सकता है या नही ?' उसका ही उत्तर भगवान् महावीर ने दिया—

"सव्व भूयप्पभूयस्स सम्म भूयाइँ पासओ।
पिहिआसवस्स दतस्स पावकम्म न वधइ ॥"

—दश० ४।६

अर्थात् सर्वात्मभूत वन ! यानी विश्व की समस्त आत्माओ को तू अपने समान समझ। तेरी आँखे जैसे अपने सुख और दुख पर पडती है, अपने शरीर पर पडती हैं और अपने परिवार पर पडती है और तब तेरे हृदय मे स्नेह का झरना वहने लगता है। जब तू मित्रो से मिलता है, तब तेरे मन के कण-कण मे से जो स्नेह की धारा वहने लगती है उन स्नेह-करुणा और आत्मीयता के भावो को जरा और आगे वढा। यदि तू विश्व के अन्य प्राणियो को आत्मीयता के उपहार बाँटेगा और सबके आनन्द मे आनन्द और सबकी हँसी मे हँसी मानेगा, तो तेरा जीवन विराट भावो की लहरो मे वहने लगेगा, तब तेरे जीवन मे सयम जागेगा और तभी तू इन्द्रियो का दमन कर सकेगा।

निग्रह के सूत्र

इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिग्रह—ये दोनो वातें साधक के लिए जरूरी मानी गई है। किन्तु किसलिए ? यही सबसे बडा प्रश्न है। माता भोजन तैयार करती है। दुकान से पहिला पुत्र आता है, तो उसे वडे प्रेम से खिला देती है। स्कूल से दूसरा पुत्र आता है, तो उसे भी उसी प्रेम से खिलाती है, फिर तीसरे और चौथे

पुत्र-पुत्रियाँ आते हैं, तो उन्हे भी उसी आनन्द-उल्लास से भोजन खिलाती है। इसके बाद पुत्र वधुओ को भी प्रेम से भोजन करा देती है। जब उन्हे खिलाती जाती है तब उसके स्नेह-रस की धारा सूखती नही, बल्कि और अधिक बढती जाती है। यदि उसे उस भोजन मे से कुछ भी न मिले, तब भी माँ की ममता कम नही होती। वह नही कहती कि—"मैंने कष्ट उठाकर इतनी चीजें बनाई और ये सबकी सब खा गए। मुझे नही मिला।" भारत की माताओ को स्नेह और वात्सल्य की वह शक्ति प्राप्त है, जिससे कि वे यही सोचती हैं, मानो बच्चो ने खाया तो मैंने ही खाया। क्योकि वह स्नेह के आधार पर इन्द्रिय-निग्रह और मन का निग्रह करना भी जानती हैं। यदि ठीक तरह से आप भारतवर्ष के इतिहास के पन्ने उलट जाएँ, तो कुछ ऐसे जीवन-प्रसग मिलेंगे, जिनमे बडे से बडा इन्द्रियो के निग्रह और मन के निग्रह का आदर्श रखा गया है। बडे से बडे हठयोगी भी उतना निग्रह नही कर पाए, जितना घर के भाइयो ने या पत्नियो ने किया है। उस निग्रह का आधार प्रेम तथा स्नेह था।

भारतीय पितृत्व

राम वनवास मे जाते हैं। वनवास किसको मिला ? राम को। मिला क्या, उन्होंने स्वय वरण कर लिया। दशरथ से कैकेयी ने वचन माँगा कि राम चौदह वर्ष के लिए वन चले जाएँ। दशरथ और राम दोनो आमने-सामने खडे हैं, पर दशरथ के मुँह से शब्द नही निकल पा रहे हैं। रामायण के लेखक चाहे तुलसीदासजी हो, वाल्मीकि हो या जैन ही हो, किन्तु किसी ने भी

दशरथ के मुंह से यह नही कहलाया कि 'राम तुम वन मे जाओ।' यदि वे ऐसा कहला देते तो भारतीय पितृत्व को लाञ्छित कर देते। पिता जमीन पर मूर्च्छित पडे है। एक ओर वचन घेर रहे हैं तथा दूसरी ओर पिता का मोह घेर रहा है। कल्पना कीजिए—एक ओर शेर खडा है तथा दूसरी ओर नदी वह रही है। ऐसी विकट परिस्थिति मे मनुष्य की जैसी किंकर्त्तव्य-विमूढ हालत हो जाती है, वैसी ही हालत दशरथ की भी हुई। उनके मुंह से एक शब्द नही निकला कि—"राम! तू वन को चला जा!" भारतवर्ष का पिता यदि कह देता कि 'चला जा' तो पिता का गौरव ही नष्ट हो जाता। साथ ही पुत्र का गौरव भी नष्ट हो जाता।

वाणी का माध्यम कोई महत्व नही रखता है। मुंह से यदि कहा जाए कि तुम यह करो तो इसमे कोई महत्व नही है। समझदार को इशारा काफी है। मन के भाव को मन जान ले और उस कार्य पर अग्रसर हो जाए। यदि वाणी से कहला कर किया तो क्या किया? वाणी के द्वारा कहे हुए शब्द तो पशु भी ग्रहण कर लेते हैं और तदनुरूप कार्य करने लगते हैं। किन्तु मनुष्य देश-काल-भाव को देखकर कर्म करता है। राम को जब वचन की वात मालूम होती है, तो विना पिता से कहलाए स्वय वन मे जाने के लिए तैयार हो जाते है। पिता से पुत्र ने यह भी मालूम नही किया कि आप क्या चाहते है? क्योकि घटना-चक्र स्पष्ट रूप मे शीशे के मानिन्द उनके सामने ही था कि यह वात है। राम वन मे गए। चौदह वर्ष तक कितनी पीडाएँ और द्वन्द्व प्राप्त हुए? उनका इतना वडा इन्द्रिय निग्रह किस आधार पर

चलता रहा? केवल एक ही आधार पर न? पिता को ऋण से मुक्त कराना है।

सीता की साधना

दूसरी ओर हम सीता को देखते है। वनवास तो राम को मिलता है—सीता को तो नही मिलता। किन्तु क्या यह सभव है कि चन्द्रमा तो चला जाए और चांदनी न जाए? दीपक जल रहा है। उसे दूसरे कमरे में ले जाते हैं, तो क्या दीपक चला जाता है और प्रकाश वही रह जाता है? भारतीय पति यदि चाँद है, तो पत्नी चांदनी है। पति यदि दीपक है, तो पत्नी उसका प्रकाश है। कौशल्या सीता को रोकती हैं और राम भी कहते हैं कि तुम यहीं रह जाओ। सीता के लिए ऐसा चित्रण तुलसीदास जी ने किया है कि जब तक वह पिता की गोद मे रही, तब तक फूलो की शय्या पर रही और वधू—वह बनकर आई, तो सास की गोद मे रही। उसके चरण भूमि पर भी नही पडे। किन्तु वह फूल-सी राजकुमारी सूने जगल मे, उस भयानक पथ पर चल पडी, जहाँ राक्षस आदमियो को चबाकर खा जाते थे। सीता मे वह तेज कहाँ से आया? इतना बडा इन्द्रिय-निग्रह कहाँ से आया? उसने कहाँ साधना की थी कि इस प्रकार खाने-पीने मे नियत्रण करना है। लोग कहते हैं कि पहले साधना करनी चाहिए। साधना द्वारा जब तक अदर मे स्फुरणा और जागृति नही आती, तब तक कुछ नही होता है। लेकिन सीता ने ऐसी साधना कहाँ की थी? सीता चौदह वर्ष तक वन मे रही। पर उसके मुंह से शिकायत का एक शब्द भी आप सपूर्ण रामायण मे नही पा सकते है कि आज

खाने को नही मिला है, पानी नही मिला या और प्रकार के दुख-कष्ट हैं।

सीता रावण की कैद मे रहती है। वहाँ भी उसी निग्रह वृत्ति का परिचय देती है। लोग कहते हैं कि अगस्त्य ऋषि ने समुद्र पी डाला था। कोई बात नही। साधारण समुद्र पीना शायद आसान भी होता है। किन्तु दुख का सागर पी जाना अति कठिन है। जब ससार की आपत्तियाँ आती हैं, तो लोग समुद्र तो क्या एक चुल्लू भर खारा पानी, कष्ट का पानी पीने से भी घबरा जाते हैं। हम सीता को चौदह वर्ष तक दुख की आग मे जलती देखते हैं और ऐसा मालूम पडता है कि मानो शूली की नोक पर उसका जीवन गुजरा। किन्तु उसने दुख-पीडाओ का सागर पी लिया। इतना आदर्श इन्द्रिय निग्रह कैसे हुआ? किस प्रेरणा से हुआ? राम के प्रति रहे हुए उसके प्रेम और आत्म-समर्पण ने उसे प्रेरणा दी।

कुछ लोग इन्द्रिय निग्रह कर लेते हैं, किन्तु मन का निग्रह नही कर पाते। निग्रह की एक से एक आगे हमारी भूमिकाएँ हैं। सीता ने दोनो निग्रह किए। निग्रह की यह साधना आत्मौपम्य की भावना से हुई। सीता ने राम को अपनी आत्मा की तरह ही समझ कर राम के वनवास को अपना वनवास जो माना।

मथरा की भूमिका

आगरा कॉलेज मे एक बार तुलसी रामायण पर व्याख्यान माला थी। मैंने भी उसमे भाग लिया। मैंने देखा कि हर वक्ता

मथरा दासी को कोसता-सा रहा था। यह सुनकर मैं सोचने लगा कि इतने अपमान भरे शब्दो की बौछार उस बेचारी मथरा पर क्यो की जा रही है ? आखिर बात क्या है ? मथरा का जहाँ स्थान है, वहाँ से ही उसकी तस्वीर देखनी चाहिए। अपनी निगाह से नही देखना चाहिए। जब मेरे बोलने का प्रसग आया, तो मैंने कहा कि मथरा का विषय हमारे लिये वेदना का विषय बन गया है। मथरा का नाम लेते ही ऐसा मालूम होता है कि उसने हमारे मन मे आग ही लगा दी। किन्तु मथरा कौन थी ? कैकेयी की दासी। उसे कैकेयी के पिता ने कैकेयी के साथ रहने के लिए भेजा था। उसकी अपनी ही भूमिका थी। उसके मानस को रघुकुल के अन्य पात्रो के मानस से तोलना, जिनकी अपनी त्यागमय कुल परम्परा थी, क्या उसके साथ अन्याय नही है ? वह इतना ऊँचा किस प्रकार सोच सकती थी ? उसका तो अपना ससार था। उस ससार मे वह केवल कैकेयी को ही बसा पाई थी। इसलिए वह यदि कैकेयी की हित-रक्षा के लिए षड्यत्र करती है और भरत को राज्य दिलाने की योजना करती है, तो क्या कोई गजब कर डालती है ? अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए गलत रास्ता अख्तियार करना ठीक नही है, किन्तु उदात्त आदर्शों की भूमिका मे न रहने के कारण असस्कार वश येन-केन-प्रकारेण वह केवल सेवक का धर्म निभाती है, तो वह कौन सी भयकर भूल कर लेती है ? मथरा स्वामि-भक्ति वश जो भी करती है, उसमे आखिर उसका वैयक्तिक स्वार्थ भी क्या है ? उसे तो कोई नवीन उपलब्धि

होने वाली नही थी। उसके बेटे-पोते को भी राज्यगद्दी मिलने वाली नही थी। उसको तो वही दासी का काम करना था। इसलिए वह तो स्पष्ट ही कह देती है कि मैं तो दासी हूँ। अब तो दासी से रानी बनने से रही। इस प्रकार तिरस्कार, अनादर सह कर भी सम्पूर्ण शक्तियो से मथरा ने अपनी स्वामिनी की हित-रक्षा का प्रयत्न किया। तो यहाँ आप किसी और दृष्टि से नही देखकर सिर्फ इसी दृष्टि से देखें कि उसने अपने व्यक्तिगत यश-अपयश की कुछ भी चिन्ता न करते हुए दासी के कठोर कर्तव्य को ठीक तरह से निभाया या नही निभाया ?

लक्ष्मण का आत्म-विसर्जन

रामायण एक ऐसी तस्वीर है कि उसमे हर रग मिलते हैं। दासी का क्या कर्तव्य है, स्वामिनी का क्या कर्तव्य है, भाई का क्या कर्तव्य है, इसकी भी रूपरेखा मिलती है। भाई के कर्तव्य के लिए लक्ष्मण को लाकर खडा कर दिया। एक तरफ भरत और शत्रुघ्न की जोडी है, तो दूसरी तरफ राम-लक्ष्मण की जोडी है। दोनो अपने-अपने कर्तव्य सुन्दर ढग से अदा कर रहे है। किन्तु आप भारत के कुछ इतिहासकारो की बुद्धि की पहुँच देखिए ! किसी एक ने लिखा है कि सुमित्रा राजनीति और कूट-नीति की सबसे बडी पडिता थी। कौशल्या और कैकेयी तो बुद्धू थी, पर सुमित्रा बडी चतुर और चालाक थी। वह जानती थी कि अयोध्या का राज्य तो भरत या राम को मिलेगा, ऐसी अवस्था मे मेरा क्या होना है ? तो उसने एक-एक पुत्र को एक-एक तरफ लगाए रखा। उसने दोनो हाथो मे लड्डू रक्खे। मैं

चकरा कर रह गया कि इन्होने भी खूब गोता लगाया। और इतना रामायण का अध्ययन किया, किन्तु यह नही देखा कि वह किस दृष्टिकोण से लिखी गई है। वहाँ दो भाई जरूर है, एक राम के पीछे और एक भरत के पीछे। किन्तु राम और लक्ष्मण के तथा भरत और शत्रुघ्न के प्रेम का कोई बँटवारा नही है। आयु की दृष्टि मे राम के सपर्क मे लक्ष्मण और भरत के सपर्क मे शत्रुघ्न आए। राम के पीछे लक्ष्मण ने और भरत के पीछे शत्रुघ्न ने रह कर अपना कर्तव्य अदा किया। हाँ ! यदि भरत से शत्रुघ्न कुछ पाने की कोशिश करता या सुमित्रा उसे सकेत देती कि अब तो मौका है, तू कुछ ले ले, तो सुमित्रा की कूटनीति का कोई आधार मिलता, पर ऐसा नही है। लक्ष्मण राम के साथ १४ वर्ष तक रहे, तो उन्होंने भी कौन-सा अधिकार प्राप्त किया ? हमारी भारतीय सस्कृति राजनीति की दृष्टि से नही देखती। कम से कम कूटनीति की दृष्टि से तो हर्गिज भी नही देखती। क्योकि इस सस्कृति मे छल-कपट की योजना नही है। लक्ष्मण ने प्रेम के आधार पर ही १४ वर्ष का वनवास भोगा। वे दिन भर काम करते हैं, भूख-प्यास सहते हैं, रात्रि मे सबके सो जाने पर सजग प्रहरी की तरह खडे रहते हैं, फिर भी कोई शिकायत नही करते। इसीलिए हम कहते है कि लक्ष्मण ने आत्म-विसर्जन कर दिया। अपनी आत्मा का अलग अस्तित्व ही नही रखा। उसे राम की आत्मा मे ही मिला दिया। इस भाव पर मैंने कहा कि ग्रथो का हम गहराई से विचार करे। सूने और उथले मन से नही पढे। क्योकि सूने और उथले मन से पढने वाले ज्यादा पाप करते हैं।

जो नही पढते है, उनसे भी ज्यादा पाप करते हैं। जो उथले मन से पढते है और उनमे मे विचित्र धारणाएँ वनाकर प्रसग की गहराई नहीं समझते है, वे गलत रास्ते पर चले जाते है।

सच्चा इन्द्रिय-निग्रह

सव आत्माओ को अपनी आत्मा के समान समझो। जैसे अपने को सुख-दुख के काँटे मे तोलते हो, वैसे ही दूसरो को भी उसी काँटे से तोलो। जैसी तुम्हारी स्नेह की धारा अपने लिए वहती है, वैसी ही विश्व के लिए वहने दो। भगवान ने इन्द्रिय-दमन की बात पहले नही कही। वे पहले कह सकते थे, किन्तु नही कही। भगवान महावीर को निवृत्ति मार्ग का पथिक कहा जाता है। और समझा जाता है कि उस महापुरुष ने भले ही अपना कल्याण किया हो, किन्तु राष्ट्र को कोई महत्वपूर्ण चेतना नही दी। ये आरोप आज ही नही किन्तु पहले भी लगाए जाते रहे हैं। भ० महावीर निवृत्ति मार्ग के इतने वडे पोषक थे कि सारे साम्राज्य को ठोकर मार दी। उसको छोडते समय उसकी ओर एक वार भी मुड कर नही देखा। उनमे इतना त्याग और वैराग्य था। निवृत्ति के इतने पक्षपाती थे। फिर भी निवृत्ति को पहले क्यो नही लाए? "पिहिआसवस्स दतस्स"—यह वात तीसरे चरण मे क्यो कही? इन्द्रिय निग्रह और मन के दमन की वातें वे पहले क्यो नही लाए? इसीलिए नही लाए कि कार्य और कारण भाव उनके सामने था। वे जानते थे कि प्रेम की भूमिका स ही अहिंसा और दया की भूमिका तैयार होती है। इन्द्रिय निग्रह भी स्नेह भाव ही कर

सकता है। स्नेह मनोनिग्रह भी कर लेता है। ऐसा इन्द्रिय-निग्रह मनोनिग्रह कोई काम का नही, जो दूसरो का दमन करने के लिए किया जाता है। उन्होने कहा कि वह इन्द्रिय निग्रह कोई अर्थ नही रखता है, जो स्नेह के अभाव मे होता है। निर्मल स्नेह के आधार पर जो इन्द्रिय निग्रह और मनोनिग्रह किया जाता है, वही निग्रह सच्चा निग्रह है। जो अपनी इन्द्रियो का दमन करता है, मन के छेदो को बाँधता है, विषय-वासना के प्रवाह को रोकता है, उसको पाप-कर्म का बँध नही होता। भारतीय मानस कहता है कि तुम पाप से बच सकते हो। पाप भूत की तरह तुम्हारे पीछे नही रहता। वह तो मन की ही छाया मात्र है। उस छाया को बदल दो, तो पाप नष्ट हो जाएगा।

जीवन को मधुर बनाना चाहिए। इसी रास्ते से विश्व के प्राणियो के प्रति आत्मौपम्य बना जा सकता है। यही सबसे बडा धर्म है। यह धर्म सलामत रहा, तो दूसरा धर्म भी पनप जाएगा। जो खेत सूखा पडा हो, पानी की एक भी बूँद नही बरस रही हो, जमीन तवे की तरह तप रही हो, ऐसी जमीन मे कोई किसान बीज फेंक आए, तो उस जलती हुई रेत मे क्या कोई फसल पैदा होगी? जब भूमि सींची जाती है, कोमल बनाई जाती है, नीचे भी तरावट होती है, और ऊपर से भी इन्द्र देवता की महरबानी होती है, तब बीज बोया जाए, तो फसल तैयार होती है। इसी प्रकार जब तक मन द्वेष और घृणा की आग मे जल रहा है, उसमे कोई स्नेह नही—प्रेम नही कोई अहिंसा या दया की धारा नही, तब तक चाहे जितनी तपस्या की जाए, उसका भी कोई अर्थ नही

है। दुर्भाग्यवश हमारे यहाँ तपस्या का बहुत ही विकृत रूप हो गया है। कही सास-बहू की लड़ाई हुई तो बहू ने क्रोध मे आकर आठ दिन की तपस्या कर ली। ऐसी तपस्या और ऐसे इन्द्रिय निग्रह का क्या महत्व है? घर मे सुन्दर साडियाँ हो, किन्तु देवरानी-जेठानी के झगडे के कारण कोई फटे चिथडे पहनने लग जाए या सादगी की साक्षात मूर्ति ही बन जाए तो क्या वह इन्द्रिय निग्रह कहा जाएगा? त्योहार आए, किन्तु मन-मुटाव के कारण आप मौन धारण कर बैठ गए, तो उस मौन का क्या अर्थ है? प्रेम, स्नेह और सद्भाव के साथ जो इन्द्रिय निग्रह किया जाता है, वही वस्तुत: इन्द्रिय निग्रह होता है। इसी दृष्टि से मैंने आरम्भ मे कहा था कि पहले जब हमारा जीवन सेवा व प्रेम मे आप्लावित होगा, तभी इन्द्रिय-निग्रह का वट-वृक्ष पल्लवित हो सकेगा।

साधना के दो रूप

एक राजा था। वह शिकार के लिए जगल मे गया। शेर, चीते, हिरन, खरगोश आदि निरीह पशुओ को क्रूरता पूर्वक मार करके वापस राजधानी की ओर अग्रसर हुआ। रास्ते मे एक तपोवन था। यहाँ एक तपस्वी रहते थे। राजा ने तपस्वी को दण्डवत् किया और पूछा—"महाराज! आप क्या कर रहे हैं?"

"मैं साधना कर रहा हूँ'—तपस्वी ने कहा।

राजा ने फिर पूछा—'आपकी यह साधना कब से चल रही है?"

तपस्वी ने बताया "न जाने कितने ही वसन्त बीत गए।"

राजा ने पूछा—"तब अब यह साधना कब सफल होगी ?"

तपस्वी ने जवाब दिया—"मुझे मेरे गुरु ने एक डण्डा दिया है, जब इस सूखे डण्डे मे हरे पत्ते फूटेंगे, और फल लगेंगे, तभी मेरी साधना सफल होगी।"

राजा ने पूछा—"क्या अब तक कुछ परिणाम आया है ? क्या डण्डे का रूपान्तर होने लगा है ?"

"अभी तक एक अकुर फूटा है"—तपस्वी ने कहा।

राजा उस सूखे डण्डे मे अकुर फूटा देखकर चकित रह गया। वह सोचने लगा कि यह असभव कैसे सभव हो गया ? उस चमत्कार को देखकर राजा के दिल मे वैराग्य हो गया। वह सोचने लगा, "उफ ! मैंने आज तक क्या किया ? बेकार ही इन निरीह पशुओ का खून किया और लालसा की पूर्ति के लिए हजारो निरपराध प्राणियो की जान ली। अब मेरा क्या होगा ?" तपस्वी के चरणो मे गिरकर राजा कहने लगा—"महाराज ! मुझे कल्याण का रास्ता बताइए।" राजा के अनुनय-विनय से खुश होकर तपस्वी ने कहा—"तुम साधना शुरू करो। मैं पशु वध करने का जो तुम्हारा अपना हथियार परशु(फरसा)है, वही तुम्हे दे रहा हूँ, इसे ले जाओ, साधना भूमि मे गाड दो और जिस दिन इसमे से अकुर, पल्लव, फूल-फल फले, उस दिन समझना कि अपनी साधना पूरी हो गई। साधना समाप्ति पर तुम मेरे पास लौट आना।"

शिष्यत्व स्वीकार कर राजा उस योगी से थोडी ही दूर एकान्त, शान्त, स्वच्छ जमीन मे बैठकर समाधिस्थ हो गया।

संयोग की बात ! उसी दिन रात मे भयकर आंधी, तूफान और वर्षा आई। वैसी स्थिति मे एक यात्री अपने परिवार सहित उसी जगल से गुजरते हुए रास्ते मे भटक गया। बेचारा परेशान, महिलाएँ परेशान। किसी तरह दुख पाता हुआ वह योगी के निकट आया और नमस्कार कर कहने लगा—हे तपोधन ! मैं रास्ता भूल गया हूँ, बच्चे बिलख रहे हैं, स्त्रियाँ रो रही है। इसलिए अब आप मुझे बताइए कि मैं किस रास्ते से जाकर अपनी मजिल तय कर सकता हूँ। साधु बोला—क्या मैंने तुम्हे रास्ता बताने का ठेका ले रखा है ? बडे आए हो रास्ता पूछने वाले, जाओ, अपने कर्मों का फल भोगो। मेरी तपस्या भग न करो। यात्री गिडगिडाया, रोया, अनुनय-विनय की लेकिन तपस्वी का दिल नही पसीजा। तपस्वी ने उसे सप परिवार के अपने सुरक्षित क्षेत्र से बाहर निकाल दिया।

बिचारा यात्री दुख का मारा आगे बढा। थोडी ही दूर पर राजर्षि दिखाई पडा। वह उनके पास पहुँचा और नमस्कार कर बैठा ही था कि राजर्षि ने पूछा—बेटा, इस भयानक समय मे तुम कैसे भटक गए ! राहगीर ने कहा—योगीराज, मैं आपकी तपस्या भग करने के अपराध मे क्षमा चाहता हूँ। इस समय मैं रास्ता पूछने के लिए आया हूँ।

इसमे तपस्या क्या भग हुई। यह तपस्या तो फिर भी होती रहेगी, पहले मेरा फर्ज है कि मैं तुम्हे रास्ता बता दूँ। बेटा, किसी को रास्ता बताने से कभी साधना भग नही होती। ऐसा कहते हुए राजर्षि उठे। राहगीर को साथ लिया और उस भयकर रात मे उसे

सुरक्षित स्थान पर पहुँचा आए। रात भर तूफान चलता रहा। बादल गरजते रहे। बिजलियाँ कड़कती रहीं और बारिश बरसती रही।

सवेरा हुआ, लाली छाई, पछी बोले और राजर्षि ने आँखे खोली—सोचा कि देखूं मेरे फरसे मे पल्लव फूटा है या नही? फिर सोचा—अरे मैं क्या सोच रहा हूँ? वर्षों से मेरे गुरु साधना मे तल्लीन है, फिर भी अभी तक उनके डण्डे मे एक ही अकुर फूटा है तो मैं आज ही पल्लव फूटने की कल्पना कैसे कर रहा हूँ? राजर्षि ने मन मार लिया। पर थोडी देर बाद फिर मन मे उठा कि अकुर न फूटा हो, तो भी देख लेने मे क्या हर्ज है? उन्होने कपडे से आवृत्त फरसे पर नज़र डाली, तो देखकर चकित रह गए कि वह फरसा न केवल अकुर से बल्कि पत्ते और फल-फूलो से लदा हुआ था। राजर्षि की खुशी का ठिकाना न रहा। वे उठे, तपस्वी के पास आए और नमस्कार कर बैठ गए। तपस्वी ने पूछा, क्या साधना पूरी हो गई? जी हाँ, कहते हुए राजर्षि ने फरसा तपस्वी के सामने रख दिया। तपस्वी ने उसे देखा तो सोचा शायद मेरे डण्डे मे भी ऐसा ही हुआ हो। जब कपडा उठाया और देखा तो पहले जो एक अकुर था, वह भी मुरझाया हुआ दिखाई पडा। तपस्वी रो पडे। कहने लगे—हे प्रभु, तू यह क्या कर रहा है? यह कैसा खेल है? क्या साधना के नाम पर मेरी सारी जिन्दगी इसी तरह तबाह हो जाएगी?

राजर्षि ने तपस्वी को आश्वासन देते हुए कहा—गुरुदेव! ऐसे विलाप करने की अपेक्षा आप यह सोचिए कि कही साधना मे

कोई भूल तो नही हो रही है ? योगी ने कहा—नही। मैं आज तक साधना के पथ मे विचलित नही हुआ और खासकर आज की रात मे तो अविचल भाव से साधना करता रहा हूँ। रात को कुछ लोग मेरे पास आए, रोए-चिल्लाए तब भी मैंने अपना आसन नही त्यागा। सभी विघ्नो को दूर कर मैं साधना मे लगा रहा। बीच मे ही बोलते हुए राजर्षि ने कहा—गुरुदेव, वे ही स्त्री-पुरुष मेरे पास आए थे। उनकी आर्द्र वाणी सुनकर मेरा दिल पसीज गया। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि कही दयादेवी ही मेरा हाथ पकडकर मुझे उन्हे रास्ते दिखाने के लिए प्रेरित कर रही है। मैं उठा, उन्हे रास्ता दिखाया और फिर वापस आकर समाधिस्थ हो गया। सुबह तक मे जो कुछ हुआ, वह अब आपके सामने है।

"राजर्षि तब तो वे अवश्य ही भगवान के रूप मे थे। मैं उन्हे नही पहचान सका। कैसा हूँ मैं ?" राजर्षि ने योगी के सामने साधना के हार्द को रखा और भविष्य मे सावधान रहने का आग्रह किया।

साधना हो या भक्ति, उसके मूल मे दिल की कोमलता चाहिए। जब तक दिल कोमल न हो, स्नेह की सरिता न बहे, दया के दरिए न लहराए, तब तक इन्द्रिय निग्रह नही हो सकता, मनोनिग्रह नही हो सकता और साधना की सिद्धि भी नही हो सकती। भक्ति से दूसरो के साथ तादात्म्य भाव आता है। भारतीय सस्कृति मे इसी को आत्मौपम्य कहा है। श्रीमद् भगवद् गीता मे श्रीकृष्ण ने आत्मौपम्य के विषय मे बताया है कि—

आत्मौपम्येन सर्वत्र, सम पश्यति योऽर्जुन !
सुख वा यदि वा दु खं, स योगी परमो मत ॥

जो दूसरो को अपनी आत्मा की तरह देखता है, वही सबसे बड़ा योगी है। जो अपने दुख के समान दूसरो का दुख और अपने सुख के समान दूसरो का सुख समझता है और सुख-दुख मे सम्मिलित होता है, उसी को आत्मौपम्य कहते है। जो आत्मौपम्य की साधना करते हैं और प्रतिपल उसे व्यवहार मे लाते हैं, वे ही सच्चे मानव हैं।



६

आदेश या उपदेश

सस्कृत भाषा शब्द वैचित्र्य की दृष्टि मे अनुपम भाषा है। एक ही शब्द के अनेक रूप, अनेक प्रकार मे बनते हैं और उसी तरह उनके अर्थ भी बदलते जाते हैं। इस भाषा मे दो शब्द हैं, एक 'आदेश' और दूसरा 'उपदेश'। दोनो शब्दो की मूल धातु एक ही है। 'आ' लगने पर 'आदेश' और 'उप' लगने पर 'उपदेश'। इस तरह एक ही 'देश' धातु के दो शब्द बनते हैं। सस्कृत व्याकरण की यह बहुत बडी विशेषता है कि साधारण-सा परिवर्तन करने के साथ ही धातु का मूल अर्थ इतना बदल जाता है कि उसकी कल्पना भी साधारणत नही की जा सकती। सस्कृत व्याकरण मे एक सूत्र आता है—"प्रहार हार सहार विहार प्रकारवत्।" 'हार' एक शब्द है। इसका अर्थ है—किसी की चीज चुरा लेना हरण कर लेना। इस शब्द के प्रयोग से चोरी जैसी निकृष्ट भावना अभिव्यक्त होती है। किन्तु सस्कृत व्याकरण की शैली इतनी अद्भुत है कि वह काटो को भी फूल बना देती है और विष को भी अमृत का रूप दे देती है। चोरी के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाली धातु कैसे-कैसे अपने रूप बदलती है! यदि हार के पहले 'प्र' उपसर्ग जोड दिया जाए तो 'प्रहार' अर्थात् चोट करने

का अर्थ हो जाता है। यदि उसके पहले 'आ' उपसर्ग लगा दिया जाए, तो उसका अर्थ 'आहार' यानी भोजन करना हो गया। अब देखिए—कहाँ तो चोरी करना और चोट लगना उसका अर्थ था, कहाँ भोजन करना अर्थ हो गया। इतना सुन्दर अर्थ भी तुरन्त बदल सकता है, यदि हम 'स' उपसर्ग लगाकर उसको 'सहार' बना दे तथा इसी तरह वह धातु फिर से सर्वथा कोमल हो सकती है, यदि हम 'वि' उपसर्ग लगाकर उसे 'विहार' बना दें।

एक नारी ने अपने पति से प्रश्न किया कि —

"आयुक्त प्राणदो लोके वियुक्त साधुवल्लभ ।
प्रयुक्त सर्व-विद्वेषी केवल स्त्रीषु वल्लभ ॥"

स्त्री ने पूछा कि—"ऐसे दो अक्षरो का कोई शब्द बताओ, जिसके पहले 'आ' लगा देने से ससार को जीवन शक्ति देने लगे, 'वि' लगा देने से वह साधु जनो को प्रिय हो जाए, 'प्र' लगा देने से सब के लिए दु खद बन जाए, पर वह अकेला स्त्रियो के लिए प्रिय हो।" उत्तर मे 'हार' शब्द बताया गया और सब उपसर्गो को जोडकर इच्छित अर्थ फलित कर दिया गया। यह सस्कृत वाड्मय की अपनी विशेषता है।

निरतर प्रयत्न अपेक्षित है

इसी भाषा के शब्द हैं—आदेश और उपदेश। हमे उपदेश की भूमिका अपनानी चाहिए और आदेश की भूमिका से दूर रहना चाहिए। उपदेश का मतलब यह है कि साधक की आत्मा को जगा दिया जाए। उसमे प्रेरणा का एक बीज छोड दिया जाए,

और फिर देखा जाए कि उस प्रेरणा का प्रकाश साधक के जीवन मे प्रगट होता है या नही ? यदि नही हो रहा है, तो उस उपदेश के बीज का विचारो के जल से पोषण किया जाए। यदि विचारो का पोषण भी उपदेश के बीज को अकुरित करने मे सफल नही हो और ऐसा मालूम पडे कि जलते हुए तवे पर डाली हुई पानी की बूँद की भाँति वे विचार भस्म हो गए है, तो विचार की एक बूँद और डालनी चाहिए। और इस प्रकार बूँदो पर बूँदे डालते जाना चाहिए। आखिर तवे को ठण्डा होना पडेगा। इसी तरह उपदेश से भी एक दिन मानव का हृदय अवश्य बदलेगा। मानव की आत्मा अनन्त काल से माया की आग मे जलती रही है, तपती रही है। इस जलती हुई आत्मा मे विचारो की एक बूँद डालने मात्र से काम नही बनेगा। उसके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना पडेगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उपदेश का असर विपरीत प्रतिक्रिया के साथ ही बाहर आता है। फिर भी हताश होने की कोई जरूरत नही है। जब पुराना पाप नष्ट करना होता है, तो एकाएक उसका उभार हुए बिना नही रहता। उस उभार से घबराने की कोई आवश्यकता नही है। यदि वह पाप जमा हुआ ही रहेगा तो आत्म-साधना का मार्ग नही खुलेगा। जैसे कही गन्दगी जमा हो जाती है, महीने-दो-महीने तक उसे कोई छेडता नही और एकाएक जब उसकी सफाई शुरु की जाती है, तो उस गदगी मे से अत्यन्त बदबू निकलती है। सारा वातावरण दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। यदि उस समय ऐसा सोचा जाए कि इसे छेडा ही न होता तो अच्छा रहता, तो यह सोचना

उचित नही है, क्योकि उसकी सफाई करना तो आवश्यक ही है।

इसी प्रकार पुराना ज्वर शरीर के अन्दर ही अन्दर खोखलापन उत्पन्न करता रहता है। जब उसको मिटाने के लिए औषधोपचार किया जाता है, तब एकाएक वह पुराना ज्वर उभर कर ऊपर आ जाता है, सारा शरीर तपने लगता है, कमजोरी छाने लगती है, किन्तु उससे घबराने की कोई आवश्यकता नही है। क्योकि ज्वर का अन्दर ही अन्दर रहना अधिक खतरनाक होता है और जो तेज बुखार आया है, वह तो जाने के लिए है। इसी तरह साधना के क्षेत्र मे शुभ और अशुभ विचारो का जब सघर्ष होता है, तब एक बार अशुभ विचार अपनी पूरी ताकत लगा कर शुभ विचारो को पराभूत करने की कोशिश करते हैं, पर आखिर विजय शुभ विचारो की ही होगी, ऐसा निश्चित विश्वास रखना चाहिए। धैर्य के साथ उपदेश देते रहना चाहिए और साधक को उसका अभ्यास करते रहना चाहिए। 'अनेक-जन्म-ससिद्धिस्ततो याति परा गतिम्' अनेक जन्म जन्मान्तरो तक सिद्धि के द्वार खोलने की कोशिश करने पर ही कही जाकर सिद्धि का द्वार खुल पाता है। यदि साधक एक झटके मे ही फैसला करना चाहे, तो यह उसकी ज्यादती ही है।

बुढापे मे दार्शनिकता का उदय

जहाँ आदेश की भूमिका आती है, वहाँ अहिंसा का विचार सकुचित हो जाता है और हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया भी शिथिल

और फिर देखा जाए कि उस प्रेरणा का प्रकाश साधक के जीवन मे प्रगट होता है या नही ? यदि नही हो रहा है, तो उस उपदेश के बीज का विचारो के जल मे पोषण किया जाए। यदि विचारो का पोषण भी उपदेश के बीज को अंकुरित करने मे सफल नही हो और ऐसा मालूम पडे कि जलते हुए तवे पर डाली हुई पानी की बूँद की भाँति वे विचार भस्म हो गए है, तो विचार की एक बूँद और डालनी चाहिए। और इस प्रकार बूँदो पर बूँदे डालते जाना चाहिए। आखिर तवे को ठण्डा होना पडेगा। इसी तरह उपदेश से भी एक दिन मानव का हृदय अवश्य बदलेगा। मानव की आत्मा अनन्त काल से माया की आग मे जलती रही है, तपती रही है। इस जलती हुई आत्मा मे विचारों की एक बूँद डालने मात्र से काम नही बनेगा। उसके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना पडेगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उपदेश का असर विपरीत प्रतिक्रिया के साथ ही बाहर आता है। फिर भी हताश होने की कोई जरूरत नही है। जब पुराना पाप नष्ट करना होता है, तो एकाएक उसका उभार हुए बिना नही रहता। उस उभार से घबराने की कोई आवश्यकता नही है। यदि वह पाप जमा हुआ ही रहेगा तो आत्म-साधना का मार्ग नही खुलेगा। जैसे कही गन्दगी जमा हो जाती है, महीने-दो-महीने तक उसे कोई छेडता नही और एकाएक जब उसकी सफाई शुरू की जाती है, तो उस गदगी मे से अत्यन्त बदबू निकलती है। सारा वातावरण दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। यदि उस समय ऐसा सोचा जाए कि इसे छेडा ही न होता तो अच्छा रहता, तो यह सोचना

उचित नही है, क्योकि उसकी सफाई करना तो आवश्यक ही है।

इसी प्रकार पुराना ज्वर शरीर के अन्दर ही अन्दर खोखलापन उत्पन्न करता रहता है। जब उसको मिटाने के लिए औषधोपचार किया जाता है, तब एकाएक वह पुराना ज्वर उभर कर ऊपर आ जाता है, सारा शरीर तपने लगता है, कमजोरी छाने लगती है, किन्तु उससे घबराने की कोई आवश्यकता नही है। क्योकि ज्वर का अन्दर ही अन्दर रहना अधिक खतरनाक होता है और जो तेज बुखार आया है, वह तो जाने के लिए है। इसी तरह साधना के क्षेत्र मे शुभ और अशुभ विचारो का जब संघर्ष होता है, तब एक वार अशुभ विचार अपनी पूरी ताकत लगा कर शुभ विचारो को पराभूत करने की कोशिश करते हैं, पर आखिर विजय शुभ विचारो की ही होगी, ऐसा निश्चित विश्वास रखना चाहिए। धैर्य के साथ उपदेश देते रहना चाहिए और साधक को उसका अभ्यास करते रहना चाहिए। 'अनेक-जन्म-ससिद्धिस्ततो याति परा गतिम्' अनेक जन्म जन्मान्तरो तक सिद्धि के द्वार खोलने की कोशिश करने पर ही कही जाकर सिद्धि का द्वार खुल पाता है। यदि साधक एक झटके मे ही फैसला करना चाहे, तो यह उसकी ज्यादती ही है।

बुढापे मे दार्शनिकता का उदय

जहाँ आदेश की भूमिका आती है, वहाँ अहिंसा का विचार सकुचित हो जाता है और हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया भी शिथिल

हो जाती है। उपदेश की भूमिका एक मात्र हृदय-परिवर्तन की भूमिका को प्रोत्साहन देती है। इसलिए विचारो पर विचार फेंकते जाइए। एक दिन ये विचार जरूर रग लाएगे। जैन-दर्शन के महान् व्याख्याता श्री वादिदेव सूरि के पास एक व्यक्ति ने बुढापे की अवस्था मे दीक्षा ली। दीक्षा लेने के बाद वादिदेव सूरि ने शिष्य को कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने की नसीहत दी। शिष्य ने उसे स्वीकार करके पढना शुरू किया। वह शिष्य प्रति दिन अपना पाठ रटता था। पडोस के एक पडित ने देखा और सोचा कि यह बूढा क्या ज्ञान सीखेगा ? पर उसे यह बात कैसे समझाई जाए ? पडौसी पडित ने एक तरकीब सोची। वह शिष्य जहाँ बैठता था, ठीक उसके सामने ही पडित ने एक मूसल खडा किया और रोज शिष्य के पाठ याद करने के समय आकर पडितजी उस मूसल को सींचने लगे। यह प्रक्रिया देख-देख कर इस शिष्य को बहुत ताज्जुब होता था। आखिर पडितजी रोज मूसल को सींचते क्यों है ? बहुत दिन तक तो उन्होने नही पूछा। लेकिन एक दिन पूछ ही लिया। पडितजी ने बताया कि मैं इस आशा से इसे सींचता हूँ कि किसी दिन यह हरा-भरा हो जाएगा, इसके पत्ते आएगे, फल-फूल लगेंगे। शिष्य को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने कहा—भला, मूसल भी कही हरा-भरा हो सकता है ? यह आप कैसी बात करते है ! अवसर आया देखकर पडितजी ने कहा—मैंने सोचा कि अगर आप जैसे बूढे आदमी को जिसने जीवन भर कुछ नही किया, बुढापे मे विद्या प्राप्त हो सकती है, तो फिर मेरे इस मूसल को भी फल-फूल लग सकते है। शिष्य को बात चुभ गई।

उसने सोचा कि अब इस विद्या को प्राप्त करने के लिए परेशान होना व्यर्थ है। यह सारी घटना उस शिष्य ने अपने गुरु वादिदेव सूरि के सामने रखी। तब वादिदेव सूरि ने कहा—ओ भोले शिष्य, तुम कैसी बात करते हो! मूसल तो जड है, और तुम चेतनाशील हो! उसकी और तुम्हारी कैसी तुलना? शिष्य ने कहा—गुरुदेव! मैं बुढा हो गया हूँ। गुरु ने कहा—क्या तुम्हारी आत्मा बूढी हो गई है? हम जिस ज्ञान को प्राप्त करना चाहते है, वह ज्ञान शरीर को तो नही दिया जा रहा है। वह ज्ञान आत्मा के लिए है। इसलिए उस मूसल के साथ तुम्हारी क्या तुलना? तुम तो चिदानद हो। तुम्हारे अन्दर चैतन्य का महा-प्रकाश जगमगा रहा है। इसलिए यहाँ तुम जो कुछ ज्ञान प्राप्त कर लोगे, वह सदा-सदा के लिए काम आएगा, अपने मजिल पथ की ओर अग्रसर होने के लिए सबल हो जाएगा। फिर निराशा जैसी क्या बात है? गुरु का यह उपदेश सुनकर शिष्य को उत्साह और साहस मिला। शिष्य ने विद्याध्ययन प्रारभ किया। जिसके परिणामस्वरूप वे एक महान् दार्शनिक के रूप मे प्रसिद्ध हुए। सोचने की बात है कि गुरु के उपदेश के बीच मे व्यवधान आने पर भी किस तरह मार्ग मिलता है और किस तरह ज्ञान का एव जीवन मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

आखिर कालिदास का भी तो ऐसा ही हुआ था। वे जगल मे पेड की जिस टहनी पर बैठे थे, उसी टहनी को काट रहे थे। रास्ते मे से गुजरते हुए एक विद्वान महाशय ने उन्हे देखा और टोका भी कि जिस टहनी पर बैठे हो, उसी को क्यो काट रहे

हो ? पर कालिदास ने उनकी एक न सुनी। अन्त मे जब टहनी कटी और धडाके के साथ कालिदास नीचे गिरा, तब उसे मालूम हुआ कि पडितजी ठीक कह रहे थे। पर जब विद्यावती के मुँह से कालिदास को फटकार मिली तो उसके अन्तर्चक्षु खुल गये। फिर तो उसने इतना विद्यार्जन किया कि आज तो कालिदास का नाम साहित्यिक मनस्वियो मे सब से पहले लिया जाता है। पश्चिम के महान् नाटककार शेक्सपीयर से उनकी तुलना की जाती है तथा विभिन्न भाषाओ मे उनके साहित्य का अनुवाद प्रकाशित किया जाता है।

उपदेश निष्फल नहीं होता

आज जो जीवन है, वही जीवन उपदेश के असर से बदल सकता है। चेतना शक्ति औचित्य और अनौचित्य को तुरत आँक लेती है और वह जीवन-परिवर्तन की प्रेरणा देती है। भले ही उस जीवन-परिवर्तन के लिए लम्बे अभ्यास की प्रक्रिया आवश्यक हो। किन्तु उपदेश निष्फल नही जा सकता। इसीलिए भारतीय चिन्तको ने कहा है कि किसी पर दबाव नही डालना चाहिए। डडे का भय दिखाना या धन का लालच दिखाना और उस भय तथा लालच से किसी तरह का काम निकालना आत्म-विकास के लिए ठीक नही है। आज से ढाई हजार वर्ष पहले भी हिन्दुस्तान के दो महापुरुषो ने, जिन्हे जनता बुद्ध और महावीर के नाम से जानती है, उपदेश के द्वारा हृदय-परिवर्तन पर ही जोर दिया था। उन्होने समाज-परिवर्तन के लिए उपदेश का ही सहारा लिया। उनके पास राज्य-शक्ति भी थी, धन-शक्ति भी

थी, देव-शक्ति भी थी, किन्तु उन्होंने इनमे से किसी भी शक्ति का उपयोग नही किया। एक मात्र स्वय के विचार रखे और समाज को प्रगतिशील बनाने का उपक्रम किया। उनके उपदेश ने फल भी दिखाया। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक उनके उपदेश गू ज उठे। बाद मे भगवान बुद्ध के उपदेश तो पूरे एशिया मे व्याप्त हो गए। यह हृदय-परिवर्तन की शक्ति का ही परिणाम है।

समाज की पुरानी और अस्वस्थ रूढियाँ भी उपदेश के द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। परिवर्तन वस्तु का धर्म है। जहाँ परिवर्तन नही होता, वहाँ वस्तु का विकास नही होता। पेड के पत्ते भी पुराने हो जाने के बाद झड जाते हैं। फिर नया वसत आता है। नये पत्ते आते हैं और उन्ही से वृक्ष की शोभा बढती है। फिर कालचक्र गुजरता है, पत्ते पुराने हो जाते हैं, फूल कुम्हला जाते है, आखिर डाल से नीचे गिरकर समाप्त हो जाते हैं। प्रकृति का यह नियम ही है कि जब तक किसी की उपयोगिता होती है, तब तक वह उसे जीवन देती है, शक्ति देती है, उस हालत मे यदि कोई नष्ट करना चाहे तो भी प्रकृति नष्ट नही होने देती। इसी तरह सत्य भी स्वय अपनी रक्षा कर लेता है। उसे किसी बदूक वाले पहरेदार की जरूरत नहीं रहती। पर जो सामाजिक परपराएँ है, वे महाकाल के चक्र मे आने के बाद पुरानी पड जाती है। फिर उनका झडजाना और मिट जाना अनिवार्य हो जाता है। इस अनिवार्यता के कारण ससार की कोई भी शक्ति उसे बचा नही सकती। हमारी जो धार्मिक और सामाजिक

परम्पराएँ हैं, उनमे आज क्राति की आवश्यकता है। अब युग बदल गया है। इसलिए अहकार को जड पकड लेने वाली पुरानी परम्पराएँ केवल मान-प्रतिष्ठा की भावना को सरक्षण देने वाली बन गई है। इसके अलावा अब उनमे कोई दम नही रह गया है। पुरानी परम्पराएँ नयी परम्पराओ मे टकरा रही हैं। यह टक्कर व्यक्तिगत अहकार की बुनियाद पर ही होती है। आज धार्मिक सप्रदायो मे कितने झगडे हो रहे हैं! दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापथी, मूर्तिपूजक, अमूर्तिपूजक, इस तरह के भेद अब केवल आपसी सघर्ष के लिए रह गए हैं। इन सप्रदायो का उपयोग केवल व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति के लिए ही किया जा रहा है। आये दिन समाचार मिलते हैं कि एक सप्रदाय के लोग दूसरी सप्रदाय वालो से झगड पडे। मदिरो के लिए झगडा हो गया, स्थानको के लिए झगडा हो गया। कहाँ धर्म और अहिंसा का विचार! और कहाँ ये हीन वृत्ति के परिचायक झगडे! इन झगडो के मूल मे गुरु होते हैं और गुरु होते है तो चेले भी झगडने लगते है। इसलिए अब ये धार्मिक सप्रदाएँ पुराने तौर-तरीको से आगे नही चल सकेंगी। हर हालत मे उन्हे बदलना ही होगा। बदले विना अब कोई चारा भी नही है। बदलने से ही वास्तविक लक्ष्य प्राप्त हो सकेगा। जैसे शरीर पुराना होने पर उसे छोडना पडता है और नया ग्रहण करना पडता है, इसी तरह ये धार्मिक क्रियाकाड भी मनुष्य के लिए भार बन गए हैं। अब इनको बदलना ही होगा।

धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन

धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन कोई नयी बात भी नही है। हर युग मे नयी-नयी परम्पराएँ कायम हुई है और होती रहेगी। वैदिक काल की परम्पराओ से मनु-स्मृतिकाल की परम्पराएँ नही मिलती और मनुस्मृतिकाल की परम्पराओ से आज की परम्पराएँ नही मिलती। पर इतना याद रखना चाहिए, कि यह सारा परिवर्तन लोगो का हृदय बदलकर ही किया जा सकता है। हृदय-परिवर्तन के माध्यम से ही गाँधीजी ने स्वराज्य भी लिया। बहुत से लोग कहा करते थे कि जिस किसी भी साधन से मिले, स्वराज्य लेना ही चाहिए। किन्तु गाँधीजी ने कहा कि मैं अहिंसा के माध्यम से ही स्वराज्य लूंगा। अहिंसा और स्वराज्य मे से मुझे किसी एक को चुनना पडे तो मैं अहिंसा को ही चुनूँगा। आखिर वे सफल हुए। अग्रेजो ने हिन्दुस्तान का स्वराज्य का अधिकार स्वीकार किया।

यदि कोई काम किसी को पसन्द नही हो, तो शान्त भाव से उसका विरोध करना चाहिए। गलत परम्पराओ के साथ विनम्र असहयोग करना चाहिए। इस प्रक्रिया का स्थायी असर होता है। जैसे प्राकृतिक चिकित्सा या आयुर्वेदिक चिकित्सा रोग को धीरे-धीरे मिटाती है, पर जड-मूल से मिटाती है। इन्जक्शन तुरन्त असर करता है लेकिन विपरीत परिणाम लेकर वह दुबारा रोगी को परेशान भी करता है। इसी तरह डडे के बल पर जो क्रान्ति आती है, परिवर्तन आता है, उसमे स्थायित्व नही होता। तो हमे धार्मिक वातावरण मे इस अहिंसात्मक ढग से क्रान्ति करनी

चाहिए। जो आज धर्म के नाम पर अलग-अलग साईन-बोर्ड लगा दिए गए है, लेवल और चिप्पियाँ चिपका दी गई हैं, उन्हे हटाना पडेगा। ये जैनो के साधु है, ये बौद्ध साधु हैं, ये ब्राह्मणो के साधु हे, ये अन्य साधु है, इस प्रकार के लेवल वास्तविक धर्म मे नही चल सकते। सत्य रूपी महासागर मे कोई लेवल नही होता। पर फिर कह दूँ, कि यह लेवल उपदेश के द्वारा अहिंसक प्रक्रिया के द्वारा ही हटाए जा सकते हैं, आदेश के द्वारा अर्थात् जोर-जबरदस्ती कर के नही।



७

शरीर और आत्मा का सन्तुलन

चिरन्तन प्रश्न है।

जिस पर सदियो से सोचा गया, कहा गया और लिखा गया।

इन्सान है क्या ?

इन्सानियत क्या है ?

क्या यह शरीर मनुष्य है ?

क्या पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु का समन्वित रूप ही मनुष्य है ?

क्या इसके अतिरिक्त इन्सान की सत्ता है ही नही ?

क्या आत्म-चेतना भी कुछ है ?

क्या मनुष्य चिन्मय स्वरूप है ?

क्या आत्मा के अतिरिक्त इन्सान कुछ भी नही है ?

दोनो ओर ऐकान्तिक दृष्टिकोण है। केवल शरीर को मनुष्य मान लेना कठिन है और केवल आत्मा को भी मनुष्य कैसे कहे ? शरीर और आत्मा का एकाकार होना ही मनुष्य का रूप है। चैतन्य और जड का सम्मिश्रण ही मनुष्य के रूप मे प्रकट होता है। यदि कहा जाए कि मनुष्य शरीर ही है और शरीर का मतलब

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु आदि ही है, तो हम देखते हैं कि ये सब तो सर्वथा जड है। इनमे चेतना है ही नही। तब मनुष्य मे चेतना कहाँ से आएगी? और जब मनुष्य मर जाता है, तब सभी जड तत्त्व के रहने के बावजूद यानी शरीर होते हुए भी वह मनुष्य तो नही रहता? इसलिए जो लोग केवल शरीर को ही मनुष्य मानते है, वे एक ही पहलू को पकड कर बैठे हैं। उनका दृष्टिकोण एकागी अर्थात् एकान्तवादी है।

इसी तरह यदि एकान्त रूप से यह कहा जाए, कि मनुष्य केवल आत्मा ही है, तो वह भी सत्य की मर्यादा मे बाहर होगा। क्योकि मनुष्य को भूख लगती है, प्यास लगती है, नीद आती है, तो क्या यह चैतन्य का गुण है? मनुष्य को क्रोध आता है, उसमे वासनाएँ उभरती है। माया-मोह और अहकार जैसे विकार भी मनुष्य मे दीख पडते है तो क्या ये सब आत्म-तत्त्व के अनिवार्य अग हैं? यदि मनुष्य केवल आत्मा ही है, तो ये विकार कहाँ से आए? शुद्ध आत्म-तत्त्व मे इन विकारो का होना स्वीकार कर लिया जाए तो क्या परमात्म-तत्त्व मे भी ये विकार होगे? क्योकि जो आत्मा है, वही परमात्मा भी है। इसीलिए अनाग्रहपूर्वक हम ऐसा मानते हैं कि मनुष्य—शरीर और आत्मा का सम्मिश्रण है। वह केवल आत्मा ही नही है और शरीर भी नही है।

जड और चेतन का द्वन्द्व

जल आकाश मे रहता है। बादल की शुद्धता के कारण जल भी सर्वथा शुद्ध होता है, पर क्या वह मनुष्य के उपयोग के लायक होता है? नही। उस शुद्ध जल का मनुष्य तभी उपयोग कर

सकता है, जब वह बरसता है, पृथ्वी पर आता है, मिट्टी का स्पर्श करता है, कुछ मट-मैला बनता है। ऐसा हुए बिना वह पानी समाज तथा ससार के लिए उपयोगी नही हो सकता। उसी तरह आत्मा भी मनुष्य के लिए या समाज के लिए तभी समर्पित होती है, जब उसमे जड-तत्वो का सम्मिश्रण होता है। यह भारतीय द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या करने वाले केवल भौतिक वस्तुओ का द्वन्द्व मानकर ही अपने विचार की इतिश्री कर लेते है। पर भारतीय चिन्तन जड और चेतन के द्वन्द्व तक जाता है। जब यह द्वन्द्व समाप्त हो जाएगा अर्थात् क्रोध, मान, माया आदि विकार आत्मा से अलग हो जाएँगे तब यही आत्म-तत्त्व परमात्म-तत्त्व का रूप ग्रहण कर लेगा। पर इस भ्रम मे हम न रहे कि हमारी आत्मा आज के स्वरूप मे परमात्म-तत्त्व के सदृश विशुद्ध है। यह निश्चित रूप से मानकर चलना चाहिए कि जब तक हम समाज मे हैं, हमारे मन है हम क्रोध करते है, अपना भान भूल जाते हैं, तब तक जड-तत्वो का द्वन्द्व चल रहा है। भिन्न-भिन्न शब्दो मे और भिन्न-भिन्न तरीको से हर भारतीय चिन्तक ने इसी तत्त्व का विश्लेषण किया है। किसी ने जड और चैतन्य कहा, किसी ने ब्रह्म और माया कहा, किसी ने पुरुष और प्रकृति कहा। ये सब शब्द एक ही तत्त्व का विश्लेषण करने वाले हैं। सब ने यही कहा है कि यदि मनुष्य को किसी एक ही तत्त्व का परिणाम मान लिया जाए तो चौरासी लाख योनियो के रूप मे आत्मा की जो नाना आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती है, वे कैसे सम्भव होगी? इन नाना रूपो को हम केवल जड

के आधार पर ही नही मान मकते, और केवल चैतन्य के आधार पर भी नही मान सकते।

सच तो यह है कि किसी एक छोर पर सत्य नही रहता। सत्य सदा मध्यम-मार्ग का अनुसरण करता है। जड तत्त्व को प्रधानता देने वाले मनुष्य की ज्ञान तथा अनुभूति-परक प्रक्रियाओ का ठीक-ठीक और समाधान-कारक विश्लेषण नही कर सकते। क्या किसी जड तत्त्व मे अनुभूति का गुण है? क्या वह स्व तथा पर का बोध कर सकता है? यदि नही तो फिर मनुष्य मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति कहाँ से आयी? मनुष्य मे स्पदन है। भावना का बहाव है। कल्पना का खिचाव है। आखिर वह सब जड ही है, तो फिर चैतन्य है क्या? यह ठीक है कि अनुभूति के धरातल सब के भिन्न-भिन्न होते है। जैसे पानी मे यदि मिट्टी का आधिक्य हो तो वह अधिक मटमैला मालूम पडता है और यदि उसमे मिट्टी की न्यूनता हो तो वह अधिक साफ नजर आता है. इसी तरह मनुष्य का ज्ञान और अनुभूति-परक वैशिष्ट्य उसकी शुद्धता और अशुद्धता का पारिचायक है।

समन्वयवादी दृष्टि ·

साराश इतना ही है कि दोनो तरह से सोचने वाले को समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। जड और चैतन्य का ऐसा सयुक्त रूप हो गया है कि आज उसके पृथक्करण की बुद्धि नष्ट-सी हो गई है। क्योकि आत्मा और शरीर का यह मेल अनादिकाल से चला आ रहा है, और अनन्त आत्माओ का यह मेल अनन्त काल तक चलता रहेगा। हालाकि अनन्त आत्माएँ

जड तत्वो से मुक्त होकर परमात्व-तत्त्व मे लीन भी हो जाएँगी, यह मेल मनुष्य के मन की वासना का परिणाम है। विना कारण के कोई कार्य नही होता। वासना ही वह कारण है, जो आत्मा और शरीर को अलग नही होने देती। इसलिए हमारा ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि वासनाएँ शीघ्रातिशीघ्र खत्म हो। हम शरीर की वासनाओ से युद्ध करें, और उसमे विजय पाएँ तो परमात्म-तत्त्व तक पहुँचने का पथ प्रशस्त हो सकता है। शरीर मे लडने की जरूरत नही है, वासनाओ से लडने की जरूरत है। "चोर को नही, चोर की माँ को मारो"—यह एक कहावत है। इस कहावत का आशय इतना ही है कि रोग की जड पर कुठाराघात करना चाहिए, ताकि वह रोग सदा-सदा के लिए मिट जाए। इसी तरह शरीर से नही, वासना से युद्ध करो। यदि किसी तरह इस शरीर को खत्म भी कर दिया, तव भी छुटकारा मिलने वाला नही है। जव तक वासना मौजूद है, तव तक उसकी संतति बढती ही जाएगी। शरीर से लडना इन्द्रियो से लडना, मन से लडना उनके खिलाफ काम करना सच्ची आध्यात्मिकता नही है। कठोर से कठोर परीषह देकर, शरीर को तपाकर भी मनुष्य सच्चा आध्यात्मिक नही वन सकता, अगर उसकी वासनाएँ कमजोर न हुई हो।

वासना का अर्थ क्या है? शरीर का जहाँ तक उपयोग है, वहाँ तक उसकी उपयोगिता मे मुँह मोडना आवश्यक नही है। शरीर की उपयोगिता स्वीकार करना वासना नही है। जव तक जीवन की एक भी साँस वाकी रहे, तव तक हम इस शरीर से

काम लेते रहेंगे, इन्द्रियो से और मन से भी काम लेते रहेंगे। पर शरीर पर, इन्द्रियो पर, और मन पर नियत्रण हमारा ही रहेगा। हम पर इन्द्रियो का नियत्रण जब से प्रारम्भ होगा, तभी से वासना शुरू हो जाएगी। यह बहुत सूक्ष्म भेद है। कभी-कभी बन्धन भी आभूषण बन जाते हैं और अलकार भी बन्धन बन जाते है। यह सारा मन के विकल्पो पर निर्भर है। जब मन निर्विकल्प दशा मे आ जाएगा, तब बाहरी उपाधियो की कोई जरूरत नही रह जाएगी। पर जब तक यह निर्विकल्प दशा नही आती, तब तक सामाजिकता का निर्वाह आवश्यक होता है। इसलिए उस आवश्यकता से भागने की जरूरत नही है। जरूरत इस बात की है कि हम स्वय शरीर और इन्द्रियो के गुलाम न बन जाएँ। शरीर को भूखो मारना जरूरी नही है, यदि उसे भूखा रखोगे तो काम कैसे होगा ?

आत्मा की भूख

शरीर की भूख मिटाना जितना जरूरी है, उससे अधिक जरूरी आत्मा की भूख मिटाना है। आज के पाश्चात्य देश भौतिक दृष्टि से भूखे नही है। वहाँ मनुष्य के शरीर की सुविधाओ के लिए रात-दिन वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्राप्त की जा रही है। किन्तु फिर भी वे सतुष्ट नही है। क्योकि आत्मा की दृष्टि से उन्होने कोई अनुसन्धान नही किया। उनकी आत्मा भूखी है, इसीलिए अशान्त है। इसलिए शरीर की भूख और आत्मा की भूख—दोनो ओर ध्यान देना जरूरी है। मैंने अपने चितन और अध्ययन का एक ही सार निकाला है कि जीवन मे सतुलन रहना चाहिए।

करोडो लोग आत्मा की साधना मे तो लगे, पर शरीर को भूल गए। यह भी असतुलन और एकागीपन ही है। इसी तरह करोडो लोग शरीर की सुख-सुविधाएँ जुटाने मे तो लगे रहे, पर आत्मा को भूल गए। यह भी उसी तरह असतुलित दृष्टि है। यदि शरीर को भूखा रखा जाएगा, तो शरीर नष्ट होगा। यदि आत्मा को भूखा रखा जाएगा, तो जीवन नष्ट होगा। इसलिए दोनो का सतुलन आवश्यक है। रावण कितना प्रतापी सम्राट् था। उसके शरीर के लिए सारे ससार का ऐश्वर्य प्रस्तुत था। उनके दस हजार रानियाँ थी। फिर भी उसका मन शान्त नही हुआ। वह सीता को चुराकर लाने के लिए बाध्य हुआ। इसीलिए न कि उसने आत्मा की ओर ध्यान नही दिया था। इसी तरह अनेक राजा और सम्राट् हुए जिन्होने शरीर की चिन्ता की, पर आत्मा को भूल गए। दूसरी ओर अनेक कर्म-कांडी ऋषि हुए, जो रात-दिन भगवान के नाम की माला रटते रहे। जो खुद भूखे रह, अपने परिवार को भी भूखा रखा। जिन्होने समाज और राष्ट्र की भी चिन्ता नही की। वे सोचते रहे कि जिसने मुंह दिया है, वही खाना भी देगा। इस तरह सोचकर जो केवल आत्म-साधना मे अपने आप को भुलाते रहे, वे भी जीवन की वास्तविक सफलता हस्तगत नही कर सके। क्योकि मनुष्य विश्व मे आया है, तो केवल अपने लिए ही नही। समाज और राष्ट्र के लिए भी उसका कुछ कर्त्तव्य है। वह एकाकी बनकर नही रह सकता। यदि वह समाज के साथ न्याय नही करता, तो उसे जीने का क्या हक है ? क्योकि वह एक सामाजिक प्राणी है। अकेली बूंद का अपने आप

मे कोई अस्तित्व नही है। यदि उसे जीना है, तो नदी या समुद्र के साथ मिलना ही होगा। इसी तरह अकेले मनुष्य का भी कोइ महत्त्व नही है। वह समाज के साथ ही जिंदा रह सकता है। इसलिए केवल आत्मा की भूख मिटाने के बारे मे सोचना भी एकांगी दृष्टिकोण है। हमको दुहरा काम करना होगा। शरीर की ओर भी ध्यान देना होगा और आत्मा की ओर भी ख्याल रखना पडेगा। शरीर की ओर ध्यान देने का अर्थ है—इह जीवन की ओर ध्यान देना और आत्मा की ओर ध्यान देने का अर्थ है—परलोक की तरफ ध्यान देना। अगर दोनो मे से किसी एक के भी उत्तर-दायित्व से हमने मुंह मोडा, तो वह कर्तव्य बुद्धि से विपरीत होगा।

पक्षी की संतुलित दृष्टि

एक ब्राह्मण ने श्रावस्ती मे धान की खेती की। खेती बहुत अच्छी हुई। जब फसल पककर तैयार हुई तो रखवाली के लिए एक आदमी नियुक्त किया और वह स्वय शहर मे रहने लगा। खेत मे मचान बनाकर रखवाली करने वाला रात-दिन वही रहने लगा। इसी बीच तोतो का एक झुड फसल खाने के लिए आने लगा। यह झुड समय पर आता और अनाज खाकर उड जाता। रखवाली करने वाला बिचारा बहुत परेशान हुआ। तोतो का यह झुड उसके काबू मे नही आ रहा था। इस झुड मे एक ऐसा तोता था, जो सबका मार्ग-दर्शन करता था। सारा झुड उसके पीछे-पीछे आता और उसी के पीछे वापस जाता। जब वह तोता अपने झुड के साथ रवाना होता, तो अनाज की कुछ बालें मुंह मे

साथ ले जाता था। रखवाली करने वाले ने यह माजरा अच्छी तरह देख लिया। वह परेशान होकर मालिक के पास गया और यह बताते हुए कि फसल को नुकसान हो रहा है, सारी हकीकत कह सुनाई। खेत के मालिक ने सारी घटना सुनकर कहा कि जहाँ गुड होगा, वहाँ मक्खियाँ आएँगी ही। प्रभु की कृपा से जो फसल तैयार हुई है, वह केवल मेरे लिए ही नही है, बल्कि उसमे तोतो के उस झुंड का भी हिस्सा है। इसलिए उन्हे भी खाने दो। तब उस रखवाले ने कहा कि खाने की बात जहाँ तक है, वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु उनमे एक तोता ऐसा है, जो दो-चार बालें अपनी चोच मे दबाकर भी ले जाता है। यह सुनकर मालिक ने कहा—यदि ऐसी बात है, तो उसे पकडना चाहिए। यह आदेश पाकर रखवाले ने खेत मे जाल बिछा दिया। तोतो का झुड आया। वह तोता जो सबने आगे था, ज्यो ही नीचे उतरा कि जाल मे फँस गया।

यह जातक की कथा है। भगवान बुद्ध कहते हैं कि उस तोते के जीवन मे, मैं था। मैं उस जाल मे चुपचाप फँसा हुआ पडा रहा। क्योकि यदि हल्ला मचाता, तो सभी तोते भूखे ही उड जाते। इसलिए मैंने सोचा कि कम-से-कम उन्हे तो तृप्त हो जाने दूँ। यह सोचकर मैं उस जाल मे उलझा रहा। जब मैंने देखा कि सब खा चुके हैं, तो मैंने शोर मचाया। मेरी आवाज सुनकर तोतो ने सोचा कि हमारा राजा फँस गया है। अत सब तोते उड चले। रखवाले ने राजा तोते को खेत के मालिक के सामने पेश किया। मालिक ने जब उस तोते को देखा तो गद्गद हो गया, क्योकि वह तोता

बहुत सुन्दर था। मालिक ने सोचा कि ये तोते भी भूख से पीडित तो होते ही है, पर ये खेती कर नही सकते। इसलिए हमारी फसल मे इनका भी तो हिस्सा है। मैंने इसे जाल मे फंसाकर अन्याय किया है। यह सोचकर उसने उस तोते को बधनमुक्त कर दिया। फिर पूछा कि आखिर मुझसे तुम्हे इतना द्वेष क्यो है कि तुम मेरी फसल उजाडते हो ? यदि तुम्हे भूख लगती है, तो प्रेम से खाओ। किन्तु बाले तोडकर क्यो ले जाते हो ? तोते ने उत्तर दिया—मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उस पर आप पूरा विश्वास करेंगे, ऐसी मुझे आशा है। बात यह है कि मुझ पर कुछ पुराना कर्ज है। उस कर्ज को उतारे बिना मुझे चैन नही है। दूसरी बात यह है कि मैं आगे के लिए कर्ज दे रहा हूँ। और तीसरी बात यह है कि मैं अपना खजाना भर रहा हूँ। यह सुनकर खेत के मालिक ने आश्चर्य के साथ कहा कि तुम्हारी बातें बहुत रहस्य-मय हैं। यह बताओ कि तुमने किससे कर्ज लिया है ? और किसको कर्ज दे रहे हो ? तथा तुम्हारा खजाना है क्या ? तोते ने कहा कि मेरे बूढे माँ-बाप जिन्दा हैं। मैं बचपन मे उनसे कर्ज लेता रहा। उन्होने मुझे पाल-पोसकर बडा किया। अब वे अपग हो गए हैं। उनका ऋण चुकाने के लिए आपके खेत मे से बालें ले जाने के लिए मैं बाध्य हूँ। इसी तरह मेरे बच्चे भी हैं। उनके अभी तक पख नही आए हैं। उसका पालन करना मेरा कर्तव्य है। उन्हे मै कर्ज दे रहा हूँ। तीसरे बहुत-से तोते मेरे अतिथि बनकर आते रहते हैं। उन तोतो मे कोई रोग-ग्रस्त हो जाता है, कोई अपग हो जाता है, तो कोई उड नही सकता। उनके लिए

भी मुझे कुछ न कुछ जुटाना पडता है। वही मेरी निधि है, खजाना है। यह उत्तर सुनकर खेत का मालिक प्यार से गद्गद हो गया। एक तोते के मुंह से जीवन-दर्शन की यह गहरी व्याख्या भला किसको चकित नही कर देती ? मालिक ने कहा—आज से तुम स्वतन्त्र हो। जितना चाहो मेरे खेत से तुम अनाज ले सकते हो।

यह कहानी—आत्मा और शरीर के बारे मे सतुलित दृष्टि रखने की प्रेरणा देने वाली एक छोटी-सी कहानी है। अपना, अपने बुजुर्गो का और अपने बच्चो का पालन करना इहलोक के लिए आवश्यक है और रोगियो की, असहायो की, जरूरतमन्दो की सेवा-शुश्रूषा करना परलोक के लिए आवश्यक है। पहली दृष्टि शरीर-प्रधान है और दूसरी दृष्टि आत्म-प्रधान है। पहला कार्य ऋण चुकाने के रूप मे है, तो दूसरा कार्य खजाना भरने के रूप मे है। जब जीवन मे अपना व अपने चारो तरफ फैले हुए समाज तथा राष्ट्र का विचार निरन्तर समाया रहेगा, दु खी या अभावग्रस्त बन्धुओ के लिए सहानुभूति का भाव रहेगा, समाज और राष्ट्र के सुख-दु ख को बांटने की साझेदारी निभाने की वृत्ति जागृत होगी, तब आत्मा की भूख भी बुझेगी और शरीर की भूख भी बुझेगी। इसलिए दोनो मे सतुलन कायम करना, दोनो की दृष्टियो मे समन्वय पैदा करना ही इस चिरतन प्रश्न का एक मात्र समाधान है।



८

शरीर की हिफाजत
या
आत्मा की हिफाजत ?

आज मानव सभ्यता जिस तरफ झुकती जा रही है, उससे मनुष्य का आध्यात्मिक दृष्टिकोण धुंधला हो रहा है। भौतिक जीवन की चमक-दमक मे मनुष्य अपनी अन्तरात्मा को भूलता जा रहा है। इस समय मनुष्य अपने शरीर की सफाई के लिए जितना ध्यान दे रहा है, उतना ध्यान सभवत पहले कभी नही दिया गया। यदि हिसाब लगाया जाए तो यह कहना होगा कि इस समय देश के लाखो, करोडो रुपए शरीर को सुन्दर बनाने मे खर्च हो रहे हैं। साथ ही बेशकीमती समय भी नष्ट हो रहा है। ऐसा मालूम पडता है कि मन्दिर की लिपाई-पोताई हो रही है, उस पर सोने के कलश चढाए जा रहे है। किन्तु अन्दर जो देवता विराजमान है, उस तरफ किसी का ध्यान ही नहीं है। मन्दिर की सारी चमक-दमक और ऊपर के साज, सिगार की ओर ध्यान केन्द्रित हो, परन्तु मूर्ति का कुछ भी न हो, तो ऊपर की

सारी टीपटाप शून्य ही कही जाएगी। वही शून्यता की हालत आज आत्मा की है।

भौतिक सम्पत्ति और आध्यात्मिक सम्पत्ति

शरीर क्या है? भारतीय दर्शनो मे शरीर को आत्मा का मन्दिर माना है। आत्मा देवता है, और शरीर है मन्दिर। यह ठीक है कि मन्दिर की भी सार-सभाल होनी चाहिए, पर उससे भी बढकर देवता की पूजा का ध्यान रखना आवश्यक है। आज मन्दिर की पूजा हो रही है और अन्दर का देवता भूखा है, उसे कोई नैवैद्य चढाने वाला नही है।

भारतीय दृष्टि का लक्ष्य क्या था और हम किधर जा रहे हैं? वास्तव मे भारतीय दृष्टि भौतिक और आध्यात्मिक, इन दोनो सम्पत्तियो की रक्षा करना चाहती है। पर आज भौतिक सपत्ति आध्यात्मिक सपत्ति को लात मार कर आ रही है। एक ओर हमारी आध्यात्मिक सपत्ति नष्ट हो और दूसरी ओर भौतिक सपत्ति प्राप्त हो, तो वैसी हालत मे क्या किया जाए? श्रेष्ठ तो यह है कि दोनो की रक्षा की जाए। जीवन मे माया और राम दोनों जरूरी हैं, किन्तु यदि माया राम को दबाना ही चाहे यानि भौतिक सपत्ति आध्यात्मिक सपत्ति की लाश पर कदम रखकर चलना चाहे, तो क्या करना चाहिए? भौतिक सम्पत्ति का व्यामोह छोडकर आध्यात्मिक सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए। यही हमारे लिए इष्ट है। यदि हमारी आध्यात्मिक सपत्ति ही नष्ट हो गई, तो पीछे रह क्या जाएगा? दैत्यो के

पास अपार सम्पत्ति है, ऐश्वर्य है, किन्तु क्या वे हमारे पूज्य हो सकते हैं ? हम वैभव, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और सत्ता से ज्यादा स्थान आध्यात्मिकता को देते हैं। आध्यात्मिकता अपने आप मे एक दृष्टि है। हर काम करते समय उसको किसी न किसी प्रकार लक्ष्य मे रखना आवश्यक है।

मौलिक दृष्टि का अभाव

आजकल अधिकाश लोग अखबार पढते हैं। कुछ लोग तो अखबारो के ऐसे रसिक हैं कि वे एक समय का खाना छोड सकते हैं, किन्तु अखबार नही छोड सकते। उनके लिए अखबार ससार की दूसरी गीता बन गई है। लोगो ने एक प्रकार से धार्मिक पुस्तको से भी ज्यादा महत्व अखबारो को दे दिया है। अखबार मे भी आप पढते क्या हैं ? रूस यह कर रहा है। अमेरिका वह कर रहा है। इधर डाका डाला गया, उधर चोरी हुई, इधर बलात्कार की घटनाएँ हुईं, उधर हत्याएँ हुईं, इस तरह की घटनाओ से अखबार के पन्ने भरे रहते हैं। इन घटनाओ को पढा और भूल गए, हमारे मन पर पढने की कोई प्रतिक्रिया नही हुई तो अखबार पढने का अर्थ क्या है ? ये घटनाएँ क्यो होती हैं ? इन घटनाओ की बुनियाद मे कौन-सी व्यवस्था है ? क्या उस व्यवस्था को जडमूल से बदल देने की क्षमता पढने वाले के दिल मे पैदा होती है ? यदि नही होती, तो केवल आंखो की अमूल्य शक्ति अखबार पढकर नष्ट नही करना चाहिए। घटना की गहराई तक जाना, असलियत का पता

लगाना, हेयोपादेय का विवेक करना, यही तो पढने का उद्देश्य हो सकता है। लेकिन आज इस उद्देश्य के प्रति कौन जागरूक हैं ?

आज ही अखबार मे एक खबर छपी है। किसी गाँव मे एक आदमी ने किसी का लोटा चुरा लिया था। उसे चोरी के अपराध मे गिरफ्तार कर लिया गया। पुलिस ने चोर को थानेदार के सामने पेश किया। अक्सर पुलिस या थानेदार के लिए समझा जाता है कि उनके दिल नही होता, किन्तु कभी-कभी पुलिस और थानेदार के दिल की सख्त चट्टानो से भी करुणा के निर्झर फूट निकलते है। थानेदार ने उस चोर को देखा, उसकी आकृति को देखा और उसके घर की परिस्थिति का पता लगाया, तो उसे मालूम हुआ कि लोटा चुराने वाले के घर मे खाने के लिए एक छटाक भी अनाज नही था। उसके बच्चे भूख से व्याकुल थे। उसकी पत्नी सूख कर पजर हो गई थी, और उसके बूढ़े बाप का दम टूट रहा था। इसीलिए वह चोरी करने को विवश हुआ, और उसे कुछ न मिला तो एक लोटा ही चुरा ले भागा। घटना की जानकारी पाकर थानेदार ने उस चोर को मुक्त करते हुए पांच रुपये दिए और उससे कहा कि इससे तुम कुछ खा-पी लेना और किसी काम की तलाश करना, ईमानदारी से जीविका चलाने की कोशिश करना। चोर ने पाँच रुपये ले लिए, कुछ खाया-पीया और काम की तलाश मे निकला। पर चोर समझ कर समाज के किसी भी सदस्य ने उसे नौकर नही रखा। चोर को घर मे रखने का

साहस किसमे है ? ऊपर-ऊपर से देखने वाले कभी साहस का काम कर भी तो नही सकते। अखबार मे यह खबर आई, पर इसकी तरफ कितने लोगो का ध्यान गया। अखबार पढने का लाभ तो यह होना चाहिए कि ऐसी खबरें पढते ही मन मे यह विचार उठे कि समाज के ऐसे दलितो को भी स्थान देना आवश्यक है। साथ ही यह भी सोचना चाहिए कि आखिर व्यक्ति चोरी करने के लिए मजबूर क्यो होता है ? और वह मजबूरी कैसे मिटाई जा सकती है ? पर अखबार पढने वाले इस तरह नही सोचते। इसका कारण यही है कि उनके पास आध्यात्मिक दृष्टि नही है। उनका सारा दृष्टिकोण भौतिक समृद्धि की ओर ही लगा हुआ है। यदि आध्यात्मिकता की ओर दृष्टि केन्द्रित होगी, तो समाज के रोगो का मूल पकडने की ओर ध्यान जाएगा।

मूल-रोग

जैसे वैद्य नब्ज देखता है और यह पता लगाने की कोशिश करता है कि आखिर मूल रोग क्या है ? फोडे-फुन्सी, पेट दर्द या शिर दर्द आदि की जड कहाँ पर है ? रक्त दूषित है या पाचन-शक्ति खराब है ? यदि उल्टी चाल चली जाए वास्तविक रोग का निदान न कर केवल ऊपर-ऊपर की दवा की जाए, तो वह चिकित्सा कामयाब नही होती। इसी तरह चोरी को मिटाने के लिए जेलें है, पुलिस है, फाँसी के तख्ते है, पर फिर भी चोरी नही मिटती। क्योकि ये सब इलाज मूल रोग के नही है। अन्दर झाँककर नही देखा जाता कि वास्तव मे चोरी

का कारण क्या है ? न इस बात की ही जांच की जाती है कि आखिर ये सामाजिक अपराध उभर-उभर कर ऊपर क्यो आ रहे हैं ? यही कारण है कि लाखो वर्षो से दण्ड-व्यवस्था रहने के बावजूद अपराध कम नही होते। भारतीय दृष्टि कहती है कि केवल ऊपर-ऊपर ही मत रहो। कुछ अन्दर भी प्रवेश करो और देखो कि अन्दर क्या है ?

बरतन मांजने वाले यदि केवल ऊपर-ऊपर से बरतन मांजने मे ताकत लगाएँ और अन्दर हाथ न घुमाये तो क्या वास्तविक सफाई होगी ? क्योकि दूध, जल या दूसरी चीजें तो अन्दर ही भरी जाती हैं। ऐसी स्थिति मे यदि बरतनो को मुँह देखने लायक चमका भी दिया जाए और अन्दर की गन्दगी वैसी ही पडी रहे तो क्या परिणाम होगा ? क्या उसमे रखा जाने वाला भोजन स्वच्छ रह सकेगा ? ऐसा लगता है कि आज मानव अपने जीवन-पात्र को बाहर से तो खूब मांज रहा है, लेकिन अन्दर झाँकता भी नही है, जबकि अन्दर से सफाई की आवश्यकता बहुत ज्यादा है। बाहरी जीवन को चमकाने के लिए कितने प्रयत्न हो रहे हैं ! व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन तक को ऊपर-ऊपर से सजाया-सवारा जा रहा किन्तु अन्दर की ओर किसी का ध्यान ही नही है। यही कारण है कि आज चारो ओर अव्यवस्था, शोषण और पतन के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

एक बार मैं यात्रा कर रहा था। मेरे साथ पांच-सात लोग थे। बडी तेज गरमी पड रही थी और पसीना बह रहा था।

हम लोग काफी देर से विश्राम की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। थोडी ही दूर पर एक वृक्ष और एक छोटा-सा विश्रामालय (तिवारी) दीख पडा। जब हम वहाँ पहुँचे तो मैंने कहा कि—'यहाँ थोडा विश्राम कर लिया जाए।' पर लोग कहने लगे कि—'यहाँ नही बैठना चाहिए। यह जगह ठीक नही है। आगे चलिए।' मेरी समझ मे कुछ नही आया। मैंने कहा 'सुन्दर छाया है। चारो ओर की जगह बहुत साफ है तथा हमे विश्राम की आवश्यकता है, तो फिर हमे क्यो नही बैठना चाहिए ?' लोगो ने कहा कि 'यह स्थान एक वेश्या ने बनाया है, और वृक्ष भी उसी ने लगाया है।' मुझे सुनकर आश्चर्य हुआ। मैंने लोगो से पूछा—'उस वेश्या के मन मे ऐसी धार्मिक भावना कैसे आ गई ?' लोगो ने बताया कि—'वह जीवन भर तो वेश्या ही रही। किन्तु अन्तिम समय मे उसके विचार पवित्र हो गए थे और वह भगवान् की बहुत भक्ति करने लगी थी। जो कुछ उसके पास थोडी बहुत पूंजी थी, उससे उसने यह विश्राम स्थान बनवा दिया और वृक्ष भी लगवा दिए, ताकि आने-जाने वाले राहगीर विश्राम पाएं।' तब तो मुझे और भी आश्चर्य हुआ। आश्चर्य इस बात का कि आखिर लोग मुझे यहाँ विश्राम करने से रोक क्यो रहे हैं ? मैंने लोगो से कहा कि—'जब एक वेश्या ने इस सत्कर्म मे अपनी पूंजी का सदुपयोग कर लिया, तो फिर ऐसा क्यो कहा जाता है कि यह स्थान वेश्या ने बनवाया ? ऐसा क्यो नही कहा जाता कि भगवान् क एक भक्त ने बनवाया ? मन मे जब सत्कर्म जाग गया और पुराने पापो के प्रति ग्लानि हो गई, तब एक वेश्या ने स्वय

को प्रभु की सेवा मे अर्पण कर दिया तथा अपनी बची-खुची सम्पत्ति भी देवता के चरणो मे चढा दी। पर लोग अभी भी उसकी वही वेश्या वाली लाश ढो रहे हैं। उसने जो नया जीवन अपनाया, उसको याद नही कर रहे हैं। यह भी कैसी विडम्बना है! इसका कारण यही है कि दृष्टि अन्तर्मुखी नही है। केवल ऊपर की बातें ही देखी जाती हैं।

किसे भूलें, क्या याद करें?

मान लीजिए, समाज मे किसी से भूल हो गई। और बाद मे सम्भव है उस व्यक्ति ने प्रायश्चित भी कर लिया हो। किन्तु लोग उसके आन्तरिक भावो को भूल जाएँगे। केवल जो ऊपर से गलती दीख पडी, शैतानियत की तस्वीर दीख पडी, उसी को याद रखेंगे। आखिर आपका प्यार भगवान् से है या शैतान से? आपकी प्रवृत्ति सद्गुणो मे है या दुर्गुणो मे? भगवान् की पूजा करने का महत्व ज्यादा है या शैतान की पूजा करने का? वास्तव मे हमे सत्कर्म देखने चाहिए। आत्म गुणो की ज्योति से जो प्रकाश निकलता है, हमे उसके दर्शन करने चाहिए। शैतानियत की तरफ ध्यान नही देना चाहिए। शैतानियत की ओर से दृष्टि को मोडेंगे तो बहुत सी पापात्माएँ पाप से बच जाएँगी, वरना दुष्कर्मो से बचने की इच्छा रखने वाले भी उससे बच नही सकेंगे।

हां, तो मैं उस चोर की कहानी कह रहा था, जिसे थानेदार ने पांच रुपये दिए। वह चोर कहीं भी काम न पा सका। हताश

होकर अन्ततः आटा और जहर लाया। जहर मिले आटे की रोटियाँ बनाई। और सारे परिवार सहित वे रोटियाँ खाकर सदा-सदा के लिए सो गया। सवेरे उन सबकी लाशें मिली। यह है – समाज की विषमता का एक नमूना। क्योकि वह चोर था, उसे कही काम नही मिल सकता था। चारो ओर से उसे घृणा मिली। आखिर वह मजबूर होकर सारे परिवार सहित समाज से विदा ले, इस दुनियाँ से कूच कर गया। लानत है, उस समाज को, जिसमे इन्सान इतना मजबूर और मुँहताज रहे। इस प्रकार की घटनाएँ देश के लिए बहुत बडे कलक की प्रतीक हैं। जिस जाति मे इन्सान दरिद्रता के कारण चोरी करता है और इस तरह अपने बच्चो की, अपनी पत्नी की और खुद की हत्या करके जीवन-लीला समाप्त करने के लिए विवश होता है, उस जाति के लिए यह बहुत बडा कलक है। इसी तरह जिस धर्म मे ये घटनाएँ होती हैं, उस धर्म के लिए भी यह एक भयानक कलक है।

यह सारी स्थिति देखकर तथा समाज की वर्तमान विषमता देखकर हृदय वेदना से भर जाता है। कोई रास्ता नजर नही आता। जिस देश ने चीटियो तक के खाने के लिए प्रबन्ध किया, मछलियो, कुत्तो और गायो के लिए भी खाने की व्यवस्था की। जो देश करुणा का शास्त्र लेकर केवल मनुष्य तक ही नही, अपितु पशु-पक्षी के द्वार तक पहुँचा, उसी देश मे इस प्रकार भूख से व्याकुल होकर किसी इन्सान को जहर खाना पडे, अपने हाथ से अपने प्रिय जनो को जहर देकर मार डालना पडे, तो यह कितनी लज्जा की बात है। क्या उसको अपनी पत्नी से और बच्चो से

प्यार नही होगा ? फिर भी उसे परिस्थितियो से बाध्य होकर यह सब करना पडा।

किस मां को अपने बच्चो से प्यार नही होता ? अपने बच्चो के लिए तो जानवर भी प्यार उँडेल डालते हैं। शेर जैसा हिंसक पशु भी अपने बच्चे का प्यार से पालन करता है। बिल्ली के दांत भी चूहे के लिए भले ही नुकीले हो, अपने बच्चे के लिए सुकोमल बन जाते हैं। ऐसी स्थिति मे यदि इन्सान अपने बच्चो से प्यार करे तो कौन-सी बडी बात है ? इस पर नाज़ और घमण्ड कैसा ? पशु और मनुष्य मे यह चीज़ तो समान ही है। अपनी प्रेम भावना को केवल अपने बच्चो तक ही सीमित रखना मानव की विशेषता नही है। जो दूसरो के बच्चो से भी प्यार करता है, वही सच्चा मानव है। वही धर्म की मर्यादा पर चलने वाला है। इन्सानियत तो यही है कि अपने पुत्रो की तरह ही दूसरो के पुत्रो की भूख को देखना। दूसरो के दुख को भी अपना ही दुख समझना। एक परिवार दुख के कारण यदि मरने को मजबूर होता है, तो समाज के दूसरे सदस्यो को जीने का कितना अधिकार है, यह सोचना होगा।

भगवान् की सच्ची पूजा !

अखबार मे खबर छपती है कि एक आदमी रेल के नीचे दबकर मर गया। और एक चिट्ठी मे लिखकर छोड गया कि 'मुझे भगवान के दर्शन करना है—इसीलिए मैं जा रहा हूँ।' ऐसी खबर पढकर बहुत से लोग हँसते है, मजाक करते हैं। एक

दृष्टि से देखा जाए तो मजाक की चीज भी है। क्योकि भगवान् के दर्शन क्या हैं ? यह उसने ठीक तरह से समझा नही। भारतवर्ष का दर्शन कहता है कि भगवान् के दर्शन करो। इसीलिए मनुष्य का जन्म मिला है। पर यह समझो कि भगवान् के दर्शन का रहस्य क्या है ? क्या केवल मूर्ति की पूजा करना ही भगवान् के दर्शन हैं ? नही। यह असली भगवत् पूजा नही है। सच्ची भगवत् पूजा तो उनकी आज्ञा का पालन करना है। हेमचन्द्राचार्य ने कहा है—

"वीतराग ! सपर्यातस्तवाज्ञा-पालन परम्।"

अर्थात् हे भगवान् ! तुम्हारी सर्वश्रेष्ठ पूजा—तुम्हारे कदमो पर चलना है। इस गहरे निष्कर्ष से ही भारतीय चिन्तन की धारा प्रकाशित हुई है। यदि एक पुत्र सवेरे उठकर अपने पिता के नाम की माला चिल्ला-चिल्ला कर जपे, पडोसियो की नीद खराब करे, तो क्या वह इतने से ही विनीत पुत्र हो जाएगा ? पिता कहता है कि मैं बीमार हूँ, डाक्टर को बुला लाओ। तब यदि पुत्र कहे कि मैं आपके नाम की माला जपने मे व्यस्त हूँ, मुझे समय नही है। तो क्या वह सच्ची भक्ति हुई ? ऐसे आज्ञा न मानने वाले और खाली नाम की माला जपने वाले पुत्र की अपेक्षा पुत्र नही होना, कही अधिक श्रेष्ठ है। इसी तरह भगवान् की मन्दिर मे जाकर पूजा करना, किन्तु उनके बताए रास्ते पर न चलना, वास्तविक पूजा नही है। आज्ञा का पालन करना ही मुख्य कर्तव्य है।

गौतम भगवान् से पूछते हैं कि—भगवन् ! एक भक्त है जो निरन्तर आपकी भक्ति मे लगा रहता है, उसे यदि दीन-दुखियो की सेवा के लिए अवसर मिलता भी है तो वह 'किसी के कर्मों के भोग हो, तो मैं क्या करूँ,' यो कहकर आपकी भक्ति मे ही लगा रहता है तथा दूसरा भक्त है जो आपकी गुण-स्तुति और भक्ति के लिए समय नही निकल पाता—क्योकि वह निरन्तर दरिद्रो, रोगियो और दुखियो की सेवा मे लगा रहता है, उनके आँसू पोछता रहता है—इन दोनो भक्तो मे कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है ? भगवान् उत्तर देते है—

"जे गिलाण पडियरइ से धन्ने ।"

"जो दीन और दुखियो की सेवा करता है, पीडित मनुष्यो से प्रेम करता है, अपने समस्त साधनो को जन-सेवा मे लगा देता है, वही धन्यवाद का पात्र है और वही सर्वश्रेष्ठ भक्त है।

गौतम को यह उत्तर सुनकर आश्चर्य होता है। गौतम पूछते है कि—भगवन् ! यह उल्टी बात कैसे है ? आप जैसे वीतरागी की सेवा करने की बजाय एक सासारिक प्राणी के दुखो को दूर करना, कैसे श्रेष्ठ है ? तो भगवान् कहते है—

"आणाराहण दसण खु जिणाण ।"

महापुरुष के दर्शन क्या हैं ? उनकी भक्ति क्या है ? यह समझो। वास्तविक भक्ति उनकी आज्ञा की आराधना ही है। इस तरह भगवान् महावीर सेवा-धर्म को प्रधानता देते है। महावीर

की तरह ही वशिष्ठ ने भी राम के इस सवाल का उत्तर देते हुए कि—ईश्वर की पूजा क्या है ? कहा था—

"येन केन प्रकारेण यस्य कस्याऽपि देहिन. ।
सन्तोष जनयेद् राम ! तदेवेश्वर पूजनम् ॥"

जिस किसी भी तरह मन, वचन, काया से किसी की सेवा करना ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। यहाँ यह समझने की बात है कि आखिर 'जिस किसी' शब्द का प्रयोग क्यो किया ? किसी व्यक्ति का नाम क्यो नही लिया ? क्योकि व्यक्ति कभी-कभी सीमित मर्यादा मे बँध जाता है। 'जिस किसी' शब्द के प्रयोग से जाहिर होता है कि किसी भी देश, जाति, धर्म या समाज का व्यक्ति हो, उसकी सेवा करना ही वास्तविक ईश्वर-पूजा है।

इन सब बातो के बताने का आशय यही है कि भगवान् के दर्शन करने के लिए मरने की जरूरत नही है। भारतीय चिन्तकों ने बताया है कि कदम-कदम पर भगवान् के दर्शन हो सकते हैं। ससार के सभी प्राणी ईश्वर के ही रूप हैं। किसी भी प्राणी की निस्वार्थ भाव से सेवा करना, भगवान् के ही दर्शन करना है। हम उस असीम भगवान् को किसी व्यक्ति के रूप मे न बांधे। उसे किसी मर्यादा मे कैद न करें। यदि ऐसा करेंगे तो हजार बार मरने पर भी भगवान् के दर्शन नही होगे। जब तक भगवान् के विराट स्वरूप को समस्त विश्वात्माओ मे देखने की दृष्टि नही मिलेगी, तब तक भगवान् के दर्शन दुर्लभ है। दुर्भाग्य से हमारे विचार करने का तरीका छोटा रह गया है। हम सकीर्ण विचार

के दायरे मे बन्द होकर जीवन के सम्बन्ध मे किसी महत्वपूर्ण दृष्टिकोण का निर्माण नही कर सके। यह नही समझ सके कि—

"हरिरेव जगत् जगदेव हरि , हरितो जगतो न हि भिन्न-तनु ।"

"भगवान् ही विश्व है और विश्व ही भगवान् । दोनो का अविनाभाव सम्बन्ध है। दोनो एक-दूसरे से अलग नही हो सकते ।" जो इस महत्वपूर्ण दृष्टि को समझ लेता है, वह परमार्थ के रहस्य को समझ लेता है । और वही मनुष्य भगवान् के सच्चे दर्शन करने मे सफल हो सकता है ।

आचार्य कुन्द-कुन्द कहते हैं कि बाहर के इन विकल्पो को छोडकर मूल दृष्टिकोण पर आओ । एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक तथा मनुष्य, देव, नरक और अलग-अलग गुणस्थानो की भूमिकाओ तक दृष्टि फैलाकर भी साधक को उनमे उलझना नही चाहिए । क्योकि ये भूमिकाएँ बाहर है । और मनुष्य की बुद्धि के टुकडे करने वाली है । मूल शुद्ध है, और विशुद्धि ही परमात्म तत्त्व है । इस तरह जैन दृष्टिकोण और वैदिक दृष्टिकोण बिलकुल मिल जाता है। उन्होने कहा—"जो विश्व है, वही भगवान् है ।" और हमने कहा—"सव्वे सुद्धा हु सुद्ध-णया"—समस्त आत्माएँ मूल रूप मे शुद्ध है। और यह शुद्ध अवस्था ही परमात्म-तत्त्व है । दोनो के बुनियादी दृष्टिकोण मे कोई अन्तर नही है । केवल दिल की विषमता के कारण ही हम झगडते है ।

इसीलिए भारतीय दृष्टिकोण हर प्राणी की सेवा करने का मार्ग बताता है । जाति-पाँति को भूलकर, छोटे-बडे का वर्ग-भेद मिटाकर ही सच्चे हृदय से सेवा की जा सकती है । किसी को

नीच समझ कर टुकडा फेंक देना, सेवा नही है। कोई भिखारी है, आप उस पर दया करते हैं और साथ ही आसमान पर चढ जाते है, तो ऐसे घमण्ड से सेवा करना, सेवा नही है। सब आत्माएँ समान हैं। सहयोग की अपेक्षा रखने वाले मानव को सहयोग देना मेरा धर्म है। मैंने झूठ बोला, चोरी की, हिंसा की, पाप किया – उन पापो को धोने के लिए मुझे सेवा करनी चाहिए, ऐसा सोचकर जो सेवा की जाती है, वही वास्तविक सेवा है। कोई मनुष्य भिखारी है, गरीब है, दुःखी है—ऐसा मत समझो! तुम्हारे लिए वह वरदान बन कर भगवान् का रूप आया है, ऐसा समझो।

नामदेव की सेवा

नामदेव को दो-तीन दिन के बाद कही से खाना प्राप्त होता है। वे अपनी कोठरी के बाहर बैठकर रोटी पकाते हैं। रोटियाँ बनने के बाद घी लाने के लिए नामदेव कोठरी के अन्दर गए। एक कुत्ता रोटियो की ताक मे ही बैठा था। नामदेव के उठते ही पीछे से आकर रोटियाँ ले भागा। जब नामदेव ने देखा तो उन्होने सोचा कि हर आत्मा मेरी आत्मा के ही समान है। कुत्ते को भी भूख लगी होगी। इसलिए उसे रोटियाँ खानी ही चाहिएँ। पर यह घी मेरे पास ही रह गया। यह सोचकर नामदेव कुत्ते के पीछे दौडने लगे और कहने लगे कि तुम रोटियाँ लिए जा रहे हो, इसका मुझे दुःख नहीं है। किन्तु दुःख इस बात का है कि रोटियाँ सूखी हैं। साथ मे घी भी लेते जाओ। देखने वाले लोग यह देखकर हँसने लगे, मजाक करने लगे।

हम देखते हैं कि लोग रोज खाते हैं, फिर भी पेट की माँग पूरी नही होती। पहले का कूडा साफ नही होने पाता कि दूसरा फिर डाल लेते हैं। उसको पचाने के लिए हाजमा की गोलियाँ भी खाते हैं। यदि कोई भिखारी खाना खाते समय पहुँच जाए तो उसे डाँटकर भगा देते है। यदि कोई जानवर रोटियाँ उठा ले जाए तो चिल्लाने लगते हैं, पर सोचिए कि नामदेव को तीन दिन के बाद खाना मिला था, वह भी कुत्ता ले भागा, फिर भी उन्हे दुःख नही हुआ। क्योकि सब आत्माएँ एक समान हैं, यह भारतीय चिंतन उन्हे प्रेरणा दे रहा था। मजाक करने वाले लोग इस गहराई को कैसे समझ सकते हैं? कितना ऊँचा आदर्श है, यह सेवा का। नामदेव को भगवान् ने कुत्ते के रूप मे ही दर्शन दिए। विशेषता दर्शन देने वाले की नही, दर्शन करने वाले का है। यदि देखने वाले की दृष्टि मे भगवान् है, तो उसे चारो ओर भगवान् ही नजर आएँगे। और दृष्टि मे शैतान है, तो चारो ओर शैतान ही नजर आएँगे।

अन्तर्मुखी दृष्टि

इन सब बातो के बताने का सार यही है कि हम बाहरी चमक-दमक मे अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को न भूले। इस बाहरी चमक-दमक से भारतीय संस्कृति को बहुत खतरा है। भारतवर्ष को इस खतरे का सामना करना है। आध्यात्मिक संपत्ति की रक्षा के लिए भौतिक संपत्ति की ओर से ध्यान हटाना भी पडे तो हटाना चाहिए। कही इन आकाश की उडान मे हम धरती पर चलना ही न भूल जाएँ। इसलिए केवल

शरीर की ही हिफाजत नही, वल्कि आत्मा की भी हिफाजत करनी है। आत्मा की हिफाजत का तरीका—दीन-दुखियो की सेवा करना ही हो सकता है। शरीर की ओर अधिक ध्यान देने से मनुष्य की आत्म-शक्तियां कमजोर होगी। सेवा की भावना मिटेगी। अतएव आत्मा की हिफाजत का महत्व सबसे अधिक है।



९

उन्नति और अवनति का रहस्य

मनुष्य कभी ऊपर उठता है, तो कभी नीचे गिरता है। एक झूला होता है।

वह झूला कभी ऊपर की ओर जाता है और कभी नीचे की ओर। उस झूले मे बैठा हुआ झूलने वाला भी झूले के साथ ही ऊपर तथा नीचे चढता-उतरता रहता है। इसी तरह मनुष्य को ऊपर और नीचे ले जाने वाली उसकी अपनी मनोवृत्तियां ही है। इसलिए मनुष्य को हर समय अपनी वृत्तियो पर नियन्त्रण तथा निगरानी रखनी चाहिए।

वृत्तियां ही स्वर्ग-नरक हैं

नरक और स्वर्ग की कल्पना इन वृत्तियो के आधार पर ही है। मनुष्य सोचता है कि मैं नरक में हूं या स्वर्ग में हूं, पर शरीर से नरक या स्वर्ग मे होना बहुत स्थूल है। देखना तो यह चाहिए कि किन वृत्तियो के कारण हमारा जीवन नरक रूप मे या स्वर्ग-रूप मे परिणत हुआ है? इसलिए इन सब का कारण स्वयं की वृत्तियां ही हैं। यदि वे वृत्तियां नारकीय जीवन मे रस लेती हैं, संसार के अन्याय-अत्याचार मे रस लेती हैं तो वह जीवन भी

नरक के समान ही है। और यदि जीवन मे अहिंसा-करुणा, दया का भाव है, यदि मन साधना मे प्रवृत्त होता है तो वही स्वर्ग है। इसलिये देखना यही होगा कि ये वृत्तियाँ शैतान के चरणो की उपासना करती है या भगवान् के चरणो की ? यदि इन वृत्तियो पर हर क्षण निगरानी रखी जाए और यह प्रयत्न किया जाय कि वे शैतान की ओर न जाकर भगवान् की ओर ही जाए तो मनुष्य उच्च स्तर पर पहुंच कर जीवन मे आनद, मगल की सृष्टि कर सकता है। वह आनन्द, मगल केवल उस व्यक्ति तक ही सीमित न रहकर पूरे समाज मे व्याप्त हो जाएगा।

जीवन विश्लेषण

मनुष्य ससार मे आया है तो केवल अपना ही स्वार्थ साधने के लिए नही आया है। अपने शरीर के घेरे मे ही बन्द हो जाना उसका बुनियादी उद्देश्य नहीं है। आज जो मानव स्वार्थ-परायण हो गया है, वह उसका स्वभाव नही—विभाव है, विकृति है। विकृतियो का विकार है। सामाजिक रूप धारण करके अपने जीवन को उन्नत करना ही मनुष्य का बुनियादी कर्त्तव्य होना चाहिए। हम सदियो से मनुष्य के मन का अन्वेषण और विश्लेषण करते रहे है। कितने ही शास्त्रकार, धर्मोपदेशक और मनोवैज्ञानिक आए और मानव की वृत्तियो के सबध मे विविध प्रकार के अन्वेषण किए। मनुष्य के मन मे कब अंधकार छाता है और कब प्रकाश फैलता है ? कब आलस्य उमडता है और कब स्फूर्ति उत्पन्न होती है ? इसका विश्लेषण अनेक मनस्वियो ने किया। मन क्या है ? इन्द्रियाँ क्या हैं ? आत्मा क्या है ? और इन सब पर वृत्तियाँ

किस तरह हावी रहती हैं ? इन सब बातो पर भी अनुसन्धान हुआ। भारतवर्ष मानसिक विश्लेषण का बहुत बडा केन्द्र रहा है। यहाँ का दर्शन इतना व्यापक और गहरा है कि उसको पढने तथा समझने के लिए हजार-हजार जन्म भी पर्याप्त नही हैं। ज्ञान और चिन्तन की दृष्टि से हमे इतनी बडी सामग्री उपलब्ध है कि उसके होते हुए ज्ञान-दारिद्रय का प्रश्न नही उठता। भले ही आर्थिक या प्राविधिक-टेक्निकल-चीजो के लिए भारत को दूसरे देशो की मदद मागनी पडे, किन्तु विचार चिन्तन के लिए हमारे पास अटूट खजाना भरा हुआ है। मन की वृत्तियो का भी खूब विश्लेषण यहाँ के चिन्तको ने किया है। उस सारे चिन्तन का निष्कर्ष थोडे मे, मैं प्रकट करता हूं।

मेरापन-तेरापन

यद्यपि मन की वृत्तियो के अनेक रूप-रूपान्तर हैं, पर मुख्य रूप से उन्हे दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। पहला भाग स्वय अपने से सबधित होता है। जैसे यह मेरा शरीर है, मेरा परिवार है, मेरा धन है, आदि। यह जो ममत्व की यानी "मेरेपन" की भावना है, वह एक वृत्ति है तथा दूसरी भावना "तेरेपन" की है। 'मेरा' और 'तेरा' मे ही ससार बँटा हुआ है। दोनो ही वृत्तियाँ समान रूप से अच्छी और बुरी हो सकती हैं। यदि इनकी दिशा गलत हो जाए तो इन वृत्तियो के कारण दुर्भावनाएँ पैदा हो सकती है और यदि इनकी दिशा सही रास्ते की ओर मुड जाए तो सद्भावनाओ का जन्म होता है। तेरापन और मेरापन की समस्या का जब तक फैसला नहीं होता, तब

तक जीवन की समस्याएँ हल नही हो सकती। मेरापन एक अलग ढग का विचार है। तेरापन भी एक दूसरे ढग का विचार है। और जब कोई वस्तु मेरे से तेरे के रूप मे बदल जाती है तो उसका एक तीसरा ही ढग हो जाता है। इसलिए प्रश्न यह है कि तेरे और मेरे का द्वन्द्व किस हद तक चले ? इस द्वन्द्व मे से ही सब प्रकार की वृत्तियाँ जन्म लेती हैं, उन वृत्तियो का विस्तार होता है। मैं एक उदाहरण देकर दोनो तरह की वृत्तियो का विश्लेषण कर रहा हूँ।

दो प्रसग

हम समझने के लिए कल्पना करते है। मान लीजिए कि शातिदेवी नाम की एक स्त्री है। वह बहुत रूपवान और गभीर वृत्तियो वाली है। वह अपने कमरे से बाहर आती है और दरवाजे के पास ही तेल से भरी हुई एक बोतल देवी जी के पैर से टकराकर फूट जाती है। और सारा तेल फर्श पर फैल जाता है। चूँकि वह बोतल नौकर ने वहाँ छोड रखी थी, इसलिए शातिदेवी की शान्त भावनाएँ भयकर क्रोध मे परिणत हो जाती है। देवी जी का पारा आसमान पर चढ जाता है और नौकर को ऐसी फटकार मिलती है, ऐसी-ऐसी गालियाँ मिलती हैं कि बिचारा नौकर सटपटा जाता है। नौकर कहता है कि मैंने तो सोचा था कि हाथ का काम निपटाकर बोतल को ठिकाने रख दूंगा, किन्तु अचानक ही आपका आना हो गया और बोतल फूट गई। देवी जी और अधिक गुस्से से भरकर कहती हैं कि खबरदार, जो आगे कभी कोई भी चीज बीच रास्ते मे रखी तो ! बात

समाप्त हो गई। काम चलता रहा। सयोग से एक दिन शाति देवी ने तेल लगाया। और तेल की बोतल फर्श पर ही छोडकर काम से ही कही दूसरी ओर चली गई। वही उसने किसी कार्यवश नौकर को आवाज दी। मालकिन की आवज सुनते ही नौकर दौडता हुआ उस ओर बढा कि रास्ते मे रखी हुई बोतल से टकरा गया। पिछली बार की तरह ही तेल फर्श पर बिखर गया। बिचारे नौकर के पैर मे काच का एक टुकडा भी गड गया और खून बहने लगा। वह बिचारा अपने कष्ट को भूलकर भी उन काच के टुकडो को उठाने लगा। पर जब देवीजी ने यह देखा तो गुस्से मे आंखे लाल करके बोली कि ये तुम्हारी आंखे है या बटन? देखकर नही चला जाता? क्या अन्धे हो गए हो?

दो प्रसग है। मानव की वृत्तियो के दो नमूने। घटना मे कोई अन्तर नही है। पहली घटना मे भी और दूसरी घटना मे भी बोतल का फूटना और तेल का गिरना समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि पहली घटना मे स्वय मालकिन दोषी थी और दूसरी मे नौकर। जब स्वय देवीजी से बोतल फूटी तो कहा गया कि बोतल जहां-तहां रास्ते मे क्यो रख देते हो? और जब नौकर के पैर से फूटी तो कहा गया कि क्या अन्धे हो गए हो? यह तेरा और मेरा का द्वन्द्व ही ससार को उलझाए हुए है। असल मे जब तक इस द्वन्द्व मे सतुलन नही होगा, तब तक समस्या का सुलझना कठिन है।

वृत्तियो का द्वन्द्व

रोजमर्रा के जीवन का एक दूसरा उदाहरण और रखता हूं। रेल की यात्रा मे कुछ यात्री डिब्बे के अन्दर बैठे होते है और

कुछ यात्री प्लेटफार्म पर खडे होते है। जो प्लेटफार्म पर होते हैं, वे जब अन्दर आने का प्रयत्न करते है, तब अन्दर वाले कहते हैं कि चलो आगे जाओ। इस डिब्बे मे जगह नही है। इस तरह अनेक तरह की बातें अन्दर बैठे हुए यात्री बोलते हैं। बाहर का यात्री दयनीय होकर अनुरोध करता है कि किसी तरह उसे थोडी सी जगह दे दी जाए, वह खडा-खडा ही चला जाएगा। जब अन्दर वाले मानते ही नही तो बाहर वाले यात्री अकड के साथ कहते हैं कि हमने भी टिकट लिया है। क्या तुमने रेल को खरीद लिया है जो हमे अन्दर नही आने दोगे ? इस तरह नरम-गरम होकर यात्री डिब्बे के अन्दर घुसते है और किसी तरह अपने लिए अन्दर जगह बना लेते हैं। इसी बीच भागते हुए कुछ और यात्री पहुंच जाते हैं और डिब्बे मे चढने की कोशिश करते हैं, तब वे नवागन्तुक महाशय भी बाहर के यात्रियो से इस तरह पेश आते हैं और वही व्यवहार करते हैं, जो व्यवहार उनके साथ हुआ था। यहाँ भी घटना समान है, केवल मेरे और तेरे का अन्तर है। जब खुद पर आ पडती है, तब आदमी दूसरे आदमी की आदमियत को चुनौती देता है और कहता है कि क्या तुम्हारी इन्सानियत खत्म हो गई है ? किन्तु जब वही सवाल अपने सामने प्रस्तुत होता है तो आदमी अपनी आदमियत को भूलकर वैसा ही व्यवहार करने लगता है। इसी को मैंने पीछे वृत्तियो का द्वन्द्व कहा है। इस द्वन्द्व के सामने बाहर के सब द्वन्द्व नगण्य है।

दानवी वृत्ति

साधना की बहुत बाते होती है। आखिर साधना है क्या ? अपने मन को माजना और अपनी वृत्तियो पर नियत्रण रखना ही तो साधना है। अनेक तरह के क्रियाकाडो मे उलझ जाना ही साधना नही है; साधना का सही स्वरूप तभी प्रगट होगा, जब मनुष्य इन द्वन्द्व पर विजय प्राप्त करेगा। पहला द्वन्द्व दानवी वृत्ति का है। हाथ-पैर आदि अगोपाग तो मनुष्य के होते है, पर मनुष्यता का आचरण जहाँ नही होता, वहाँ दानवता के दर्शन होते है। फिर मनुष्य सोचता है कि जो मेरा है—वह तो है ही, किन्तु जो तेरा है यानी दूसरे का है, वह भी मेरा ही है। उस पर भी मैं ही अधिकार कर लूँ। इसी भावना के परिणामस्वरूप वह हाथ मे डडा लेकर आता है और दूसरो की चीजो पर आधिपत्य कर लेता है या दूसरो को धोखा देकर स्वय मालिक बन जाता है। एक व्यक्ति को स्वप्न आया, मानो देवी ऐसा कह रही है कि यदि तुम अपने पुत्र की बलि चढाओ तो तुम्हे राज्य का अधिकार प्राप्त हो सकता है। वह व्यक्ति सुबह उठा तो सब से पहले यही विचार दिमाग मे घूमने लगा कि लडके का क्या है ? यह तो फिर पैदा हो जाएगा, पर क्या राज्य बार-बार मिलता है ? उसने अपनी पत्नी को पूछा। वह भी राज्य के लोभ मे पुत्र की ममता भूल गई और पुत्र देवी के चरणो मे चढा दिया गया। यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य की वृत्तियाँ कितनी प्रबल होती है और वे मनुष्य पर किस तरह हावी हो जाती है। इन वृत्तियो ने ही औरंगजेब जैसे पुत्र को बाध्य किया

कि अपने पिता को भी जेल मे डाल कर सडाए । जयचन्द को बाध्य किया कि वह अपने तुच्छ अहकार की पूर्ति के लिए देश की इज्जत विदेशियो के हाथ बेच डाले । इसलिए इस वृत्ति को दानवी वृत्ति के नाम से सबोधित करना अनुचित नही है । इसी दानवी वृत्ति का प्रतीक—रावण था, कस था, और दुर्योधन था । दुर्योधन अपने राज्य पर तो जमा हुआ था ही, पर पाडवो का राज्य भी हमारा ही है, यह कहकर दानवी वृत्ति का प्रतीक बन गया । अन्यथा दुर्योधन के पास क्या नही था ? धन था, राज्य था, महल थे, सब कुछ था । पर फिर भी उसने दभ किया, धोखा किया, अपना है वह तो अपना है ही, दूसरे का भी अपना ही है— इस दुर्भावना के कारण ही उसने इतिहास मे अपने नाम के साथ अपयश जोड दिया । लोग कहते हैं कि पेट के लिए धोखा देना पडता है, झूठ बोलना पडता है इत्यादि । लेकिन क्या दुर्योधन के सामने भूख की समस्या थी ? क्या वह आर्थिक सकट मे था ? यह सब नही था, फिर भी उसने सारा षड्यन्त्र तैयार किया । आखिर युद्ध हुआ । भाई-भाई के खून का प्यासा हो गया । न केवल शारीरिक हानि हुई, बल्कि बौद्धिक हानि भी असीमित रूप से हुई । उस युद्ध के बाद भारतवर्ष का भयकर पतन हुआ । उस समय से गिरा हुआ भारत आज तक उठ नही पाया है ।

मानवीय वृत्ति

उस द्वन्द्वात्मक वृत्ति का दूसरा प्रकार मानवीय वृत्ति है । इस वृत्ति मे मनुष्य अपनी चीज पर तो दृढता से अधिकार रखता

है, पर दूसरे की चीजो को हडपने की कोशिश नही करता। दो लडकियाँ गोबर बीन रही थी। दोनो ने सोचा कि कभी किसी को गोबर अधिक मिल जाता है तो कभी किसी को। फिर एक-दूसरे के मन मे दुःख होता है, या झगडा होता है। इसलिए दोनो ने मिलकर यह तय किया कि हम दोनो जितना भी गोबर लाएँगी, उसमे से आधा तुम्हारा और आधा मेरा। यह भावना पहली भावना के बजाय अधिक सौम्य और स्वस्थ है। पर यह वृत्ति भी अपने आप मे पूर्ण नही है। इस वृत्ति मे भी कुछ सकीर्णता तो है ही। फिर भी सह-अस्तित्व की बुनियाद पर यह विचार चल सकता है। जैसे राष्ट्रो की सीमाओ के बारे मे सह-अस्तित्व का सिद्धान्त कायम हुआ है, वैसे ही जीवन के हर क्षेत्र मे सह-अस्तित्व का सिद्धान्त कायम करना ही मानवीय वृत्ति का प्रतीक है।

दैवी वृत्ति

जब मनुष्य मेरेपन की भावना से भी ऊपर उठ जाता है तब उसमे दिव्य वृत्तियाँ जागृत हो जाती हैं। इन वृत्तियो के जागृत होने का अर्थ यह है कि जो दूसरे का है, वह तो दूसरे का है ही, पर जो मेरा है, वह भी दूसरे का ही है, समाज और राष्ट्र का ही है। समाज और राष्ट्र ने मिलकर ही मुझे यह सब दिया है, इसलिए जब भी जरूरत पडे, समाज ये सब चीजे मुझसे वापस ले सकता है। इसी दिव्य-वृत्ति, देववृत्ति का परिचय राम के वन-गमन के अवसर पर अयोध्यावासियो को

मिला था। चारो ओर राम के राज्याभिषेक की चर्चा थी। समस्त प्रजा राम के चरणो मे नतमस्तक होने को प्रस्तुत थी कि छोटो को छोडकर बडो को ही राज्य क्यो मिलना चाहिए ? हम चार भाई साथ खेले, साथ रहे, साथ खाया, साथ बडे हुए। हम मे कौन बडा है ? कौन छोटा है ? हम सब तो बराबर के भाई हैं, फिर मेरा ही अभिषेक क्यो हो रहा है ? यह दिव्य-वृत्ति राम के मन मे स्पदन कर रही थी। जब उन्हे मालूम हुआ कि मेरी कैकेई माता भरत का राज्याभिषेक चाहती है, तब तो वे बिना किसी के कहे झट इसके लिए तैयार हो गए। थोडी सी जमीन के लिए आजकल बाप-बेटे मे और भाई-भाई मे सघर्ष छिड जाता है, मुकदमे होते हैं, लाठियाँ चलती हैं, पर राम के हृदय मे दैवी वृत्तियाँ काम कर रही थी। वे सब कुछ छोडकर वन की ओर चले। उनकी यह गौरव-गाथा इतिहास के पन्नो मे स्वर्णाक्षरो मे लिखी हुई है। लाखो वर्षों का काल-चक्र पूरा हो जाने के बाद भी ये अक्षर मिट नही सकते।

ब्रह्मवृत्ति

देववृत्ति से भी ऊँची है ब्रह्मवृत्ति। यही वृत्ति हमें आदर्श की भूमिका तक पहुँचा सकती है। अमेरिका मे दो भाई थे। दुर्घटना मे चोट लगने से एक भाई अन्धा हो गया। दूसरे भाई ने डाक्टर से पूछा कि क्या किसी तरह से मेरे भाई को आँखे मिल सकती है ? डाक्टर ने कहा—यह तो तभी सभव है कि किसी दूसरे व्यक्ति की आँख निकाल कर इसकी आँखो के स्थान पर लगा

दी जाए। तुरन्त उस भाई ने कहा कि डाक्टर, मेरी एक आँख मेरे भाई को दे दो। जब मेरे पिता की सपत्ति मे उसका आधा अधिकार है तो मुझ पर भी तथा मेरी चीजो पर भी उसका अधिकार है। डाक्टर इन्कार कर रहा था। सब लोग इन्कार कर रहे थे। स्वय उसका भाई इन्कार कर रहा था। पर उसने किसी की नही सुनी। आखिर उसका आग्रह डाक्टर को मानना पडा। एक-एक आँख दोनो भाइयो ने बाँट ली। कितना ऊँचा सर्वस्वार्पण का विचार है यह! यह तो एक भाई की घटना हुई।

आगरा मे रामकृष्ण मिशन मे एक स्वामी जी काम कर रहे थे। वे बीमार हो गए। दिल का दौरा था। डाक्टरो ने बहुत चिकित्सा की। पर कोई भी दवा असर नही कर रही थी। बीमारी असाध्य थी। स्वास्थ्य सभल नही रहा था।

है। उसके जीवन मे प्रकाश हो गया है। यह सुनकर स्वामी जी का हृदय आनन्द विभोर हो गया। यही ब्रह्मवृत्ति कहलाती है। अपना सर्वस्व अर्पित करने का यह विचार ही हम सब का अंतिम ध्येय होना चाहिए। जब हम इन वृत्तियो का रहस्य समझ जाएँगे तो ऊपर उठने और नीचे गिरने का रहस्य भी समझ जाएँगे।



१०

भय ही पतन का कारण है

मनुष्य चाहता है कि उसे परेशानियो का सामना न करना पडे, उसके विकास मे बाधाए न पडे, उसे ठोकरें न खानी पडे, लेकिन ऐसा होता नही। मनुष्य साधारणत आध्यात्मिक दृष्टि से और भौतिक दृष्टि से भी विकास की ओर बढता हुआ नजर नही आ रहा है। हजारो लाखो आत्माए आध्यात्मिक मार्ग मे लडखडाती हुई दीखती है। इसी तरह भौतिक दृष्टि से भी अधिकाश आत्माए अविकसित दशा मे ही पडी हैं। आखिर इसका मूल कारण क्या है ? हम बुद्धिवादी है। अन्धे होकर रास्ता तय करना हमे पसन्द नही है। इसलिए उस मूल कारण की खोज करना हमारा काम है। चाहे ससार का मार्ग हो या मोक्ष का, दोनो मार्गो पर चलने के लिए आवश्यक है कि आंखें खुली रखी जाए। इसलिए हमे बुद्धिमानी पूर्वक उस मूल कारण का अन्वेषण करना चाहिए।

अपने लक्ष्य की ओर बढते हुए हम जिस कारण से लड-खडाते है, उसका नाम भय है। यही कमी मनुष्य को दुर्बल बना देती है। यदि मानव के मन मे भय न होता, तो वह सब कुछ कर सकता था। किन्तु इस दुर्बलता ने उसके कदमो को लो-

दिया है, उसके साहस को खडित कर दिया है। मनुष्य के सामने वैभव-विलास बिखरा पडा है। कही किसी चीज का अभाव नही है। हर कदम पर ऐश्वर्य और सम्पत्ति का स्रोत खुला हुआ है। लेकिन "भाग्यहीना न पश्यन्ति बहुरत्ना वसुन्धरा"— अर्थात् दुनियाँ मे धन की, ऐश्वर्य की कमी नही है। उसे देखने और समझने वालो की कमी है। यदि मनुष्य मे साहस हो, क्षमता हो और आत्म-विश्वास हो, तो वह इस ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता है। लेकिन वह सोचता है कि यदि मैं असफल हो गया, तो क्या करूँगा ? यदि मैं सकट मे पड गया तो मेरी क्या दशा होगी ? जब तक मनुष्य अपने आपको सकटो से खेलने के लिए तैयार नही कर लेगा, तब तक सकट का यह भूत मन पर सवार ही रहगा। यदि इन्सान अपने जीवन के सम्बन्ध मे सोचता रहे कि ऐसा करूँगा तो ऐसा हो जाएगा, फिर यदि ऐसा हो जाएगा तो क्या करूँगा ? इस तरह वह योजनाएँ बनाता रहता है और उन्हे मिटाता भी रहता है। एक विचार दूसरे विचार को समाप्त कर देता है। घर से बाहर निकलूँगा, लेकिन यदि जेब कट गई तो क्या करूँगा ? इस तरह एक ही साथ दो प्रकार के विचार उठने हैं। पहला विचार कुछ कर गुजरने का होता है, मगर दूसरा विचार भय उत्पन्न कर देता है। फलस्वरूप विचार मे विचार कट जाता है। सुबह से शाम तक आदमी कितनी योजनाएँ बनाता है और कितनी ही योजनाएँ खत्म करता है। यदि उसके मन पर भय का काल्पनिक भूत सवार न हो, तो कितनी ही योजनाएँ कामयाब हो सकती हैं।

विचार से विचार की हत्या

मनुष्य का हर विचार उसकी सन्तान है। मनुष्य एक विचार को जन्म देता है। वह उसका स्रष्टा बनता है। विचार पैदा होते है। लेकिन एक विचार के पैदा होते ही मनुष्य उसके प्रतिकूल दूसरे विचार को भी जन्म दे देता है। वही दूसरी सन्तान होती है, जो पहली को खत्म कर देती है। इस प्रकार सारा जीवन गुजर जाता है, लेकिन इन्सान कुछ नही कर पाता।

एक धनी सज्जन थे। उनके गांव मे एक सार्वजनिक संस्था का निर्माण हो रहा था। वे उस संस्था के भवन-निर्माण के काम को इधर से उधर गुजरते हुए नित्य देखा करते थे। कभी-कभी उस संस्था के लिए कुछ दान करने का मन भी होता, पर दूसरे ही क्षण वे हिसाब लगाने लगते कि इस दान से मेरी पूंजी मे जो कमी होगी, उसे कैसे पूरी की जाएगी? इस तरह से वे उस मकान के पास आते, कुछ सोचते फिर एक चक्कर लगाकर वापस लौट जाते। एक मन होता है कि कुछ करना चाहिए। दूसरा मन उस विचार को दबा देता है। इसी तरह सोचते-सोचते वे इस दुनिया मे चल बसे। उनकी सारी सम्पत्ति और खजाना धरा का धरा रह गया। वे कुछ दान देने की बात मात्र सोचते ही रह गए। इस तरह उस भय के भूत ने उन्हे सत्कर्म करने मे व्यवधान डाला। यदि निर्भयता के भाव मनुष्य के मन मे हो, तो वह दृढतापूर्वक जीवन के क्षेत्र मे कूद पड़ता है। मानो, समुद्र मे मोतियो के वास्ते गोताखोर छलांग मार रहा हो। जैसे वह गोताखोर समुद्र के बड़े-बड़े मगर मच्छो से नही डरता,

समुद्र की गहराई से भी नही घबराता, साथ ही इस बात की चिन्ता भी नही करता कि वह वापस आ सकेगा या नही, यदि वह ऐसी चिन्ता मे लगे तो चिन्ता मे ही रह जाएगा, कुछ कर नही सकेगा। इस प्रकार चिन्ता करने वाला समुद्र मे तो क्या, किसी मामूली नदी मे भी नही कूद सकता। खतरा तो हर काम मे रहता है। काम की चिन्ता करने वाला खतरे की चिन्ता नही करता। समुद्र का गोताखोर उस खतरे मे अपने मन को दूर हटा लेता है। फिर या तो वह मोतियो का भण्डार लेकर ही लौटता है या फिर अपने जीवन के मोतियो के चरणो मे आहुति दे देता है।

साहस से काम लें

खतरे से डरने वाला, कष्टो से घबराने वाला और आपत्तियो मे भयभीत होने वाला जीवन मे किसी भी तरह का क्रातिकारी काम नही कर सकता। जो सर्वत्र भूत ही भूत देखता रहता है, वह किसी भी उल्लेखनीय सफलता तक नही पहुंच सकता। नाविक लगर खोलकर जब चल देता है, तब वह लहरो के थपेडो से नही डरता। फिर चाहे आंधी आए, तूफान आए या वर्षा आए। वह पीछे नही मुडता। जो तूफानो से घबराता है, वह नाविक नही हो सकता। जिसके पास तूफान मे भिड जाने का होसला है, वही सफलतापूर्वक नौका से सकता है। मनुष्य का लगाया हुआ हिसाब जीवन मे कभी भी काम नही देता। यदि जीवन मे अपना सोचा हुआ गणित काम देता हुआ रहता, तो आज तक मनुष्य ने न जाने क्या-क्या कर लिया होता! सच्चा

गणित तो भविष्य के गर्भ मे ही छिपा रहता है। जीवन की सफलता और असफलता किसी जन्म-कुडली मे नही देखी जा सकती। वह तो वास्तविक जीवन मे ही देखी जा सकती है। इसलिए मनुष्य को निर्भय होकर कर्तव्य क्षेत्र के महासमुद्र मे अपनी नाव छोड देनी चाहिए। अनेक महापुरुषो ने भयकर तूफान मे से भी अपनी नाव को सकुशल पार किया, क्योकि उनके मन मे भय नही था, झिझक नही थी डर नही था। जिस आत्मा मे साहस रहता है, उसमे सफलता प्राप्त करने की क्षमता भी रहती है। यह भूमण्डल उन लोगो के लिए घर के आगन की देहली के समान है, जिनके मन मे साहस और शौर्य भरा है। जो अपनी प्रतिज्ञा और सकल्प पर सारे जीवन को न्योछावर कर देने की शक्ति रखते हैं, वे इस ससार पर उसी तरह अपने घर मे विजयी होकर रहते हैं। जब घर के एक कमरे मे दूसरे कमरे मे जाते है, तब यह विकल्प नही आता कि उस कमरे तक पहुँचने मे कोई खतरा तो नही है? उसी तरह साहसी लोगो को विशाल भूमण्डल भी घर के आगन की तरह प्रतीत होता है और विशाल समुद्र भी साधारण नदी जैसा लगता है। उन वीर पुरुषो के लिए आकाश और पाताल भी कुछ नही है। सुमेरु की चोटी लाघना भी उनके लिए बायें हाथ का खेल है। वे सुमेरु की ऊँची से ऊँची चोटी को भी मिट्टी का एक टीला मात्र समझते हैं।

सिद्धि का साधन श्रद्धा

एकमात्र साधन श्रद्धा, निष्ठा, साहस और सातत्य ही है। बहुत से लोग ऐसा समझते हैं कि अहिंसा कायरता सिखाती है। अफसोस है कि उन्होने अहिंसा के मूल विचार को समझा ही नही। जहां कायरता है, वहाँ अहिंसा फटक भी नही सकती। अहिंसा की साधना के लिए मन मे दृढ विश्वास और साहस की जरूरत होती है। जहाँ विश्वास नही, साहस नही, श्रद्धा नही, वहां धर्म भी नही है। भगवान किसी सातवे आसमान मे या इसी तरह किसी असम्भव कल्पना के महलो मे नही रहता। वह तो मानव के विश्वास और आत्म-बल मे ही निवास करता है। उसे नदी, पहाड, मन्दिर, मस्जिद आदि मे कही भी ढूंढने की आवश्यकता नही है। वह तो मन की दृढता का मन्दिर ढूंढता है और उसी मे निवास भी करता है। इसलिए भगवान की तलाश मे इधर-उधर भटकने के बजाय अभय के मन्दिर मे ही उसे ढूंढना चाहिए। वह वही मिलेगा। डरपोक और भयभीत हृदय मे भला भगवान का वास कैसे हो सकता है ? इसीलिए कहा गया है कि—

"न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे न मृन्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥"

देवता न तो काष्ठ मे है, न पाषाण मे है, न मिट्टी मे ही है। वह तो तुम्हारी भावनाओ मे ही रहता है। तुम्हारी वृत्तियो और सकल्पो मे ही उसका निवास है। हम कह सकते हैं कि अभय की भावना ही भगवान है। जहाँ यह भावना नही, वहाँ भगवान भी नही रह सकता।

मनुष्य जब जीवन की यात्रा आरम्भ करता है, तब बिना

श्रद्धा के ही लक्ष्य को पकडने का प्रयत्न करता है। विना श्रद्धा और विश्वास के प्राप्त होने वाला लक्ष्य अधिक देर तक पकड मे नही रह सकता। वह पकड भी स्थायी नही रह सकती। क्योकि उस पर उनका विश्वास नही होता। यदि अचानक कोई कहे कि इन पकड मे कुछ भी नही है, तो वह उसे छोड देता है। इसलिए दृढ सकल्प और दृढ निष्ठा के साथ जब मनुष्य लक्ष्य को प्राप्त करेगा, तभी वह उसे टिकाए रख सकेगा। यह दृढता, यह श्रद्धा और विश्वास, यह निष्ठा और सातत्य—विना वीरता के नही आ सकता। जो निर्भय होते हैं, वे ही वीर बन सकते हैं। जो वीर होते हैं, वे ही विकास कर सकते हैं। वीरता ही आदर्शों के बुझे हुए दीपक को नई ज्योति दे सकती है। जब वीरतापूर्वक भोग वासना को ठुकरा दिया जाता है, तब आत्मा का चिन्तन सहज ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे रम जाता है। फिर चाहे कितने ही प्रलोभन, सकट या भय आएँ तो भी मन पर उनका असर नही हो सकता और वे प्रलोभन सकट या भय आत्मा को अपने पथ से विचलित नही कर सकते। क्योकि उसके मन मे एक अद्भुत बल का सचार हो चुका होता है।

हर क्षेत्र में वीरता चाहिए

साधुत्व को ग्रहण करना भी वीरता से ही सभव है। यदि कोई साधारण भावावेश मे गुरु के पास आए और कहने लगे कि मुझे चेला बनना है तो इतने मात्र से उसे शिष्य नहीं बनाया जा सकता। चेले का मन घर से, धन से, भोगों से अनासक्त हुआ है या नही, यह देखे बिना किसी भी आने वाले को दीक्षित

नही किया जा सकता। क्योकि दुर्बल प्राणी का मन दौड-दौड कर भोगो को तरफ जाता ही रहता है। जैसे फौज मे भरती होने वाले सिपाही का मन दृढ और साहसी होना चाहिए, वैसे ही सयमाकाक्षी का मन भी आध्यात्मिक क्षेत्र मे सुदृढ होना चाहिए। जिन लोगो मे दृढ निष्ठा नही होती, अपने आपको बलिदान करने का सकल्प नही होता, वे जल्दी ही मैदान छोडकर भाग खडे होते हैं। यह निष्ठा केवल फौज मे भरती के लिए या साधु बनने के लिए ही नही, बल्कि जीवन के हर क्षेत्र मे आवश्यक होती है। यदि वैवाहिक जीवन मे पति-पत्नी मे दापत्य-निष्ठा न हो तो उनके लिए जिन्दगी भार स्वरूप बन जाती है। इसलिए जीवन के हर क्षेत्र मे साहस और निष्ठा का विकास किया जाए, यह बहुत जरूरी है। इसी निष्ठा के अभाव मे पश्चिम मे आज हजारो पति-पत्नियो के तलाक होते हैं। यदि यही सिलसिला चलता रहा तो आश्चर्य नही कि भारत मे भी इसी तरह की तलाक-प्रथा प्रचलित हो जाएगी। इसी निष्ठा के अभाव मे वर्तमान साधु-सस्था की हालत भी दयनीय हो रही है। साधुत्व के साथ किस प्रकार खिलवाड हो रही है, इस वेश के पीछे कितना दभ चलता है, यह बयान कर सकना बहुत कठिन है। इसलिए भौतिक और आध्यात्मिक—दोनो जीवन गभीर आत्म-विश्वास की बुनियाद पर ही अधिष्ठित होने चाहिए। चाहे जिसको अपनाया जाए, पर अपनी निष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए बलिदान करने की तैयारी होनी चाहिए। उस समय यदि मन भयग्रस्त हो जाएगा तो सफलता हाथ नही लगेगी।

आत्मा बहुत बलवान है

मनुष्य की आत्मा नरक मे भी गई, पशु-योनि मे भी गई। वहाँ अनेक तरह के कष्टो ने इतने सघर्ष किया। उन सब सघर्षो मे विजय पाकर के आत्मा मनुष्ययोनि तक पहुँच गई है। वे सब योनियाँ खत्म हुई, पर आत्मा कही खत्म नही हुई। यह इस बात का प्रमाण है कि ससार की वडी से वडी बाधा आत्मा के विकास को अवरुद्ध नही कर सकती। वडे से वडे कष्ट आएँ, आखिर उन्हे ही खत्म होना पडेगा। वे आत्मा को खत्म नही कर सकते। आत्मा का बल सब से ऊपर है। इसलिए घबडाने और डरने जैसी कोई बात नही होनी चाहिए। जब आत्मा मे निर्भयता का सचार हो जाएगा, तब स्वय वे कष्ट ही आत्मा के तेज से डरने लगेंगे। जब आत्मा वीरता पूर्वक आगे बढ़ेगी, तब उसे सहज ही अपनी मजिल भी प्राप्त हो जाएगी। पर यह याद रखने की बात है कि मजिल तक पहुँचने के लिए आत्मा को पूरा निर्भय बनाना होगा। निर्भय आत्मा ही सम्यक् दृष्टि बन सकती है। जो भय से आकुल रहता है, जिसे अपने महान् भविष्य पर विश्वास नहीं है, अपनी शक्ति पर भी भरोसा नही है, जो कष्टो से और मृत्यु से निरतर डरता है, वही मिथ्या दृष्टि कहलाता है। भय उसी को होता है, जिसकी बुद्धि देहासक्त रहती है। क्योंकि जो कुछ खतरा है, वह इस देह को ही है। आत्मा को कभी किसी से खतरा नहीं होता। मृत्यु शरीर की ही होती है, आत्मा कभी कही मरती है। इसीलिए जो मृत्यु से डरता है, वह देहासक्त है। जो देहासक्त

है, वह मिथ्या दृष्टि है। इस क्रम को अच्छी तरह से समझकर सम्यक् दृष्टि होने के लिए निर्भयता को अपनाना अनिवार्य है।

सम्यक् दृष्टि मिथ्यादृष्टि

आस्तिक यानी सम्यक् दृष्टि। सम्यक्दृष्टि न इस लोक से डरता है और न परलोक से डरता है। वह तो अपना कर्तव्य करता जाता है। कर्तव्य के अतिरिक्त वह किसी भी खतरे से आतकित नही होता। उसे न जीने का मोह होता है, न मरने का खतरा। वह जब तक जीता है, सयम, सुख और शौर्यपूर्वक जीता है तथा जब मरता है तो हँसते हुए मरता है। जैसे आदमी दिन भर काम करके थक कर सो जाता है, तथा प्रात उत्साहपूर्वक फिर से काम मे सलग्न हो जाता है वैसे ही मृत्यु आती है। एक जीवन से थक कर मनुष्य सो जाता है और फिर दूसरे जीवन मे नये उत्साह के साथ अपने कर्तव्य को पूरा करने मे जुट जाता है। सम्यक् दृष्टि मनुष्य के चिन्तन का यही प्रकार है। सम्यक् दृष्टि मनुष्य बिना किसी क्षोभ के चलता है। चाहे कोई परीक्षा लेने वाला आए, चाहे प्रकृति का उपद्रव आए, चाहे मनुष्य के उपद्रव आए, चाहे सामाजिक सघर्ष ही आए। जिसे अपने सिद्धान्त पर दृढ विश्वास होता है, वह परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाता है। बुद्ध और महावीर के विरुद्ध सारी शक्तियाँ लगी रही, किन्तु अन्त परीक्षा लेने वाली वे समस्त शक्तियाँ अनुत्तीर्ण हो गई। क्योकि उन्हे अपने लक्ष्य के प्रति सच्ची श्रद्धा थी, इसलिए उन्होने सारे कष्टो का साहस पूर्वक मुकाबला किया। उनके विचार से जो गलत सिद्धान्त थे, उनका उन्होने

डट कर विरोध किया। आदमी विचार से समझ तो लेता है कि यह परम्परा छोडने लायक है, किन्तु वह उन परम्पराओ को छोडने का साहस नही दिखा सकता। वह अपने अन्दर ही अन्दर घुटता रहता है। समाज के भय से उसका मन शिथिल हो जाता है। किन्तु जो ईश्वर का सच्चा पुत्र है, वह समाज की परवाह किए बिना निर्भय होकर उन परम्पराओ को तोड डालता है, जो समाज के लिए अहितकर होती हैं।

उपासना का स्वरूप

यदि कोई ससार के दु ख से भयभीत होकर कहता है कि मैं भगवान् की शरण मे आया हूं, तो वह उसकी सच्ची भक्ति नही है। इसी तरह जो नरक के दु खो से डरकर मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो वह भी उसकी सच्ची उपासना नही है। नरक या पशु-पक्षियो की योनियो मे जो कष्ट हैं, उनसे छुटकारा पाने के लिए उपासना करना, भय-प्रधान उपासना हो जाएगी। जो व्यक्ति नरक के दु खो से बचना चाहता है, क्या वह स्वर्ग के सुखो से भी बचना चाहता है ? क्या ससार के धन, ऐश्वर्य और साम्राज्य से भी बचना चाहता है ? यदि नही तो उस व्यक्ति की उपासना—कायरता की उपासना है, डरे हुए की उपासना है। जो सच्चा उपासक है, वह सुख और दु ख के द्वन्द्व से मुक्ति चाहेगा। सुख और दु ख—दोनो ही समान रूप से बन्धन हैं। यहां तक कि सच्चा साधक मोक्ष की स्पृहा भी नही रखेगा। न तो उसकी ससार के प्रति स्पृहा रहती है और न मोक्ष के प्रति। वह तो तटस्थ क्षोभरहित और आकाक्षा रहित हो

जाता है। जो इतना स्थितप्रज्ञ बन जाता है, वही सच्चा साधक कहलाने का अधिकारी होता है।

ऐसा साधक ही निर्भय बन सकता है। क्योकि जब तक आकाक्षा रहती है, तभी तक भय भी रहता है। जब किसी तरह की आकाक्षा ही न रही, तब भय किस बात का ? जैसे चन्द्रमा पर कितने ही बादलो का जमघट छा जाए, पर वे उसका अस्तित्व नही मिटा सकते, वैसे ही निर्भय व्यक्ति को हजार-हजार विपत्तियां भी विचलित नही कर सकती। जब ऐसी निर्भयता सधती है, तभी परेशानियो का अन्त होता है और आत्मा निरतर विकास की ओर बढती चली जाती है।



११

बन्धनों से मुक्ति कैसे मिले

आत्मा कर्म बधनो से और सासारिक पीडाओ से मुक्त हो सकती है, यह जैन सिद्धान्त का महान् चिंतन है। आज आत्मा ससार की अधेरी गलियो मे ठोकर खाती हुई घम रही है। इस अन्धकार से आलोक की ओर बढने का रास्ता विद्यमान है और वह आत्मा को प्राप्त भी हो सकता है। यद्यपि जीवन दुखो का केन्द्र है, यह बात बिल्कुल ठीक है। किन्तु क्या ये दुख कही बाहर से आए है? कही ऊपर से आकर गिरे है? या किसी दूसरे व्यक्ति ने हम पर डाल दिए? नही। इन दुखो का उद्भव मनुष्य के अन्दर से ही हुआ है। मन के सकल्प और विकल्पो ने ही इन्हे जन्म दिया है। इसलिए इनकी घेरेबन्दी को तोडकर स्वतन्त्र होन के हेतु भी कही बाहर हाथ फैलाने की जरूरत नहीं है। स्वतन्त्रता मनुष्य के अन्दर है। इसकी भीख कही बहार मांगने के लिए नही जाना होगा। परतन्त्रता जिस कारण से पैदा होती है, उस कारण को बदल दिया जाए तो समस्याओ का समाधान अपने आप हो जाता है।

जैसी श्रद्धा, वैसा जीवन

आत्मा क्या है ? मनुष्य की चेतना शक्ति। और मनुष्य क्या है ? मनोमय सकल्प-विकल्पो का पिंड ही मनुष्य है। मनु को समझने के लिए उसको मन को समझना पडेगा। जैसे उसका मन होगा, जैसे सकल्प-विकल्प होंगे, वैसा ही होगा वह। उसी के अनुसार उसका उत्थान और पतन होगा। उत्थान और पतन, सुख और दुःख, बन्धन और मुक्ति, ये सब मनुष्य के अपने सकल्पो की सताने हैं। शास्त्रकार जब सम्यक्त्व के सदर्भ मे निर्णय करते हैं, तब यही कहते हैं कि जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही जीवन बनेगा। आत्मा श्रद्धा के बिना टिक नही सकती। आत्मा तो रहे, श्रद्धा न रहे, यह नही हो सकता। आत्मा रहे और ज्ञान न रहे, यह भी नही नही हो सकता। इसी तरह आत्मा तो रहे, किन्तु वह क्रिया ही न करे, यह भी असभव है। यदि ऐसा हो तो आत्मा का स्वभाव ही बदल जाएगा। उसमे ज्ञान और क्रिया का निरतर स्पन्दन रहता है। इसी तरह श्रद्धा भी आत्मा के साथ अविनाभावी है। जैसे अग्नि के साथ उष्णता तो रहेगी ही, क्योंकि वह उसका स्वभाव है, वैसे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र अर्थात् जानना, श्रद्धा करना और क्रिया करना भी आत्मा का स्वभाव है। पर आज उस ज्ञान, दर्शन, चारित्र का स्वरूप विकसित नही है। इनका रुख उलटा हो गया है। धर्म और परमात्मतत्व की ओर श्रद्धा होने के बजाय शरीर, इद्रियाँ, धन-ऐश्वर्य, ससार, भोग-विलास आदि की ओर मनुष्य

की श्रद्धा हो गई है। उन्ही का ज्ञान, उन्ही का चिन्तन और उन्ही की क्रिया आजकल चलती है। इसीलिए ये गुण मिथ्यात्व की पर्याय मे आ गए है। इन गुणो के दो रूप होते हैं। एक मिथ्यात्व का और दूसरा सम्यक्त्व का। सासारिक आत्माएँ जब तक मिथ्यात्व की ओर बढती जाती हैं, तब तक उनका कल्याण नही हो सकता। जैसे, आम जब तक कच्चा रहता है, तब तक हरे रूप मे रहता है। जब वह पकने लगता है, तब पीला हो जाता है। इसी तरह गुणो की पर्याय भी बदलती रहती हैं। जैसे गन्ध की भी दो पर्याय होती हैं। एक सुगन्ध, दूसरी दुर्गन्ध। दोनो ही गन्ध है। पर दोनो की अवस्थाओ मे मौलिक अन्तर है।

आत्मा का स्वभाव

यह सारा ससार पर्यायमय ही है। प्रत्येक वस्तु की पर्याय बदलती रहती हैं। मूल तत्व का कभी भी विनाश नही होता। आम का भी रग बदला, पर रूपत्व नष्ट नही हुआ। गध की अवस्था बदली, लेकिन गन्धत्व नष्ट नही हुआ। रूपत्व गुण है, नीला, पीला, श्वेत आदि उसकी बदलती हुई पर्याय है। इसी प्रकार किसी फल का स्वाद भी बदलता रहता है। कभी खट्टा, कभी मीठा, कभी कड़ुआ इस तरह अन्तर आता है। पर कोई भी फल कभी भी पूरा स्वाद विरहित नही होता। ये सब अवस्थाएँ है—स्वाद की, जो बदलती रहती हैं। यही बात मन और आत्मा के गुणो के लिए भी लागू होती है। आत्मा कभी भी सर्वथा ज्ञान शून्य नही होती। यदि इसमे किसी भी समय ज्ञान का सर्वथा अभाव हो जाए तो फिर एक पत्थर के टुकडे

मे और चैतन्यमय आत्मा मे अन्तर ही क्या रह जायगा ? केवल ज्ञान के रूप बदलते रहते है। कोई कहता है कि यह अज्ञानी है। इसका मतलब क्या हुआ ? अज्ञानी तो मिट्टी और पत्थर भी हैं। इन दोनो के अज्ञान मे क्या अन्तर है ? यह समझना चाहिए। जड पदार्थों के लिए जहाँ 'अज्ञानी' शब्द प्रयुक्त होता है, वहाँ "अ" अभाव का अभिव्यजक है, किन्तु जहाँ चैतन्य प्राणियो या मनुष्य के लिए 'अज्ञानी' शब्द का इस्तैमाल होता है, वहाँ "अ" का प्रयोग अल्प अर्थ मे किया जाता है। मतलब यह कि उसे थोडा ही ज्ञान है। उस थोडे मे शरीर का ज्ञान हो सकता है, ससार के भोग-विलास का ज्ञान हो सकता है, पर उसे आध्यात्मिक तत्वो का, परमात्म-तत्वो का विशेष ज्ञान नही होता। अज्ञानी का अर्थ इसी रूप मे समझना चाहिए। क्योकि आत्मा यदि सर्वथा ज्ञान शून्य हो जाय तो सृष्टि का सारा क्रम ही बदल जायगा।

एक बार मैं एक गुरुकुल मे गया। वहाँ दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियो से मेरी मुलाकात हुई। मैंने सहज ही उनसे पूछा कि आप लोग गुरुकुल मे किस उद्देश्य से आए हैं ? किसी ने उत्तर दिया कि हम यहाँ ज्ञान प्राप्त करने आये है। तब मैंने फिर पूछा कि क्या गुरुकुल मे आने से पूर्व आपके पास ज्ञान नही था ? क्या गुरुकुल मे ज्ञान की वर्षा होती है ? या खेत मे ज्ञान होता है ? इस पर उन विद्यार्थियो ने कहा कि ऐसा तो कुछ नहीं है। मैंने उन्हे बताया कि आपके पास ज्ञान तो था ही, मगर वह अल्प विकसित और मलिन था। उसे विकसित करने के लिये आप यहाँ

आए हैं यह सुनकर उन्हे संतोष हुआ। दर्शन शास्त्र के विद्यार्थियो की वाणी मे कुछ वैशिष्ट्य होना ही चाहिए। उनका चिन्तन भी मर्मस्पर्शी होना चाहिए। इसलिए मैंने यह सवाल किया था। मैंने उनसे कहा कि ज्ञान नही था, इसलिए यहाँ प्राप्त करने के हेतु से आए है—ऐसा कहना दार्शनिक दृष्टि से उपयुक्त नही है क्योकि आज हमारा ज्ञान विपरीत दिशा मे बह रहा है। इसी तरह आचरण भी विपरीत दिशा मे जा रहा है। सही दिशा मे जाने वाला आचरण सत्कर्म कहलाता है और विपरीत दिशा मे जाने वाला आचरण दुष्कर्म। इसी तरह उर्ध्वमुखी ज्ञान, विज्ञान कहलाता है और अधोमुखी ज्ञान, अज्ञान। इसी तरह सही दिशा की श्रद्धा सम्यक्त्व कहलाती है एव विपरीत दिशा की श्रद्धा मिथ्यात्व। यह अवस्था-भेद सबको गभीरतापूर्वक समझना चाहिए। यह भेद समझने के बाद अपने ज्ञान, कर्म और श्रद्धा को उर्ध्वमुखी बनाना चाहिए।

श्रद्धा के दो रूप

हम बहुत बहस मे जाना नही चाहते। अत्यधिक तर्क कुतर्क कहलाती है। उससे कोई लाभ भी नही होता। सीधी-सी बात यही है कि अधोमुखी श्रद्धा नास्तिकता है और उर्ध्वमुखी श्रद्धा आस्तिकता है। आस्तिकता-नास्तिकता को ही जैन भाषा मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व कहा है। जब आस्तिकता का विकास होता है, तब मनुष्य ससार मे एक शानदार व्यक्ति की तरह जी सकता है। वह बुझते हुए दीपक की तरह नही, बल्कि जलते हुए दीपक की तरह आकाश मे प्रकाश फैला सकता है।

सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मे भी वह नई जागृति ला सकता है, किन्तु उस आस्तिकता के लिए यह महसूस करना होगा कि मैं आत्मा हूँ। मेरा उपयोग इतना ही नही है कि मैं सासारिक कृत्यो मे आसक्त हो जाऊँ। राग-द्वेष मे उलझा रहूँ। मुझे तो अपने जीवन को और चिन्तन को उर्ध्वमुखी बनाना चाहिए। सासारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह तो मैं उसी तरह कर लूँगा, जिस तरह सरोवर मे रहते हुए भी कमल निर्लिप्त रहता है। यह ससार कांटो का जगल है। मुझे इससे पार होना है। पर इस सावधानी से पार होना है कि एक भी कांटा चुभने न पाए। ससार एक ऐसा उपवन है, जहाँ कांटे तो हैं ही, पर फूल भी है। कुशल व्यक्ति कांटो से बचकर निकल जाता है और फूलो को चुन लेता है। इस उपवन मे दु ख, व्यवधान और पीडाओ के कांटे बिछे हैं लेकिन आनन्द, सुख और उन्नति के फूल भी यहाँ कम नही हैं। सावधान व्यक्ति कांटो को छोडकर फूल चुन लेता है। लेकिन गाफिल कांटो मे ही उलझा रह जाता है और वही अपने प्राण भी दे देता है या कांटे से डरकर भाग जाता है। दोनो ही स्थिति ठीक नही है। जिसे कांटो एव फूलो का यह भेद ज्ञात नही है, वह जीवन की महत्वपूर्ण प्रक्रियाएँ ठीक तरह मे नही समझ सकता।

ये जो कांटे हैं, वे भी सीधे नही, बल्कि औंधे हैं। इन कांटो का मुँह नीचे की ओर रहता है। इसलिए इन कांटो से बचना बहुत आसान भी है और बहुत कठिन भी है। इस उपवन मे दोनो ही तरह के लोग आते हैं। एक प्रकार के लोग कांटो ही

कांटो मे उलझकर दुःख पाते है और दूसरी प्रकार के लोग कांटो से बचने की तरकीब जानते है। उनकी यात्रा ऊर्ध्वमुखी होती है। इसलिए औंधे लटकने वाले कांटे उन्हे पीडित नही कर सकते। जो ऊर्ध्वमुखी होकर यात्रा कर रहे है, वे श्रद्धा और ज्ञान को सम्यक् रूप से विकसित करते है। वे आत्म-स्वरूप को नही भूलते। इसलिए उन्हे कही भी खतरा नही है। जिसे आत्म-विस्मरण नही होता, उसे ससार का कोई भी बन्धन दुःखी नही कर सकता। इसी तरह जो कष्टो मे पडकर या अमित सुखो को पाकर भी अपने कर्तव्य को नही भूलते, वे सदा क्षोभरहित रहते है।

अज्ञान ही बन्धन है

बन्दर पकडने वाला मदारी जब बन्दर पकडता है, तब वह जहाँ भी बन्दरो का झुण्ड देखता है, वहाँ दाने डाल देता है। पास ही मे एक ऐसा घडा रख देता है जिसका मुँह तो सकरा होता है, पर पेट बहुत ज्यादा चौडा होता है। वह घडा भी दानो से भरा होता है। जो बन्दर दाने चुगकर उस घडे के दानो को लेने के लिए उसमे हाथ डालता है। खाली हाथ तो घडे मे चला जाता है, पर दानो से भरी हुई मुट्ठी उस सॅकरे मुँह वाले घडे से निकल नही पाती। बन्दर भोलेपन के कारण यह समझता है कि अन्दर से किसी ने मुझे पकड लिया है जब कि अन्दर कोई पकडने वाला होता नही। अज्ञान से वह अपने को बन्धन मे बँधा हुआ महसूस करता है। यदि वह अपनी मुट्ठी को खोल दे तो हाथ आसानी से बाहर आ सकता है किन्तु वह मुट्ठी [illegible]

खोलता नही, और अपने को बन्दी मान लेता है, इतने मे मदारी आता है, गले मे रस्सी बाँध कर डडे से मारता है। मुट्ठी छुडा देता है और फिर अपने साथ ले जाता है। स्वय बन्दर के अज्ञान ने ही यह बन्धन पैदा किया, ऐसा कहना चाहिए। फिर उस जीवन भर मदारी के डडे खाने पडते हैं, उसके इशारे पर नाचना पडता है। उसके जीवन की स्वतन्त्रता मारी जाती है।

इसी तरह मनुष्य भी अपने अज्ञान के कारण यह समझता है कि उसे कर्मों ने बाँध रखा है। वास्तव मे उसी ने अपनी मुट्ठी मे कर्मों को पकड रखा है। यदि वह इस अज्ञान की मुट्ठी को खोल दे, तो तुरन्त बन्धन मुक्त हो सकता है। फिर ये ससार के के कष्ट और दु ख उसे तग नही कर सकते। यह अज्ञान ही सारी आपत्तियो एव विपदाओ का जनक है। यदि मनुष्य को अपनी आत्म-शक्ति का ज्ञान हो जाए, वह यह जान ले कि इस आत्मा मे अनन्त शक्ति है, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर जैसे महापुरुषो की शक्ति के बराबर ही सब की आत्मा शक्तिमान है, और यह कर्म-बन्धनो को भी अविलम्ब तोड सकती है, तो वह देखते-देखते ससार पर विजय प्राप्त कर सकता है। सामाजिक अथवा धार्मिक विचारधारा के बाहरी बन्धनो को, सकीर्णताओ के घेरो को, आडम्बरो के आवरणो को छिन्न-भिन्न करके यदि मनुष्य अन्दर के तत्वो की शक्ति पहचानने का प्रयत्न करेगा, तब तो काम बनने वाला है, अन्यथा अनन्त काल तक वह इसी तरह ससार मे परिभ्रमण करता रहेगा। खेतो मे से गुजरते हुए यदि कोई किसान प्रेम से गन्ना दे दे, लेकिन आपके दाँत नही हैं, तो उस

गन्ने से क्या लाभ ? उसे लिए-लिए घूमते रहिए, उसमे जो रस का भण्डार है, वह चखने का मजा तब तक नही लिया जा सकता, जब तक दांत मजबूत न हों। इसी तरह जब तक मनुष्य का स्वय का विचार दृढ न हो तो, तब तक ये सारे शास्त्र, धर्म के उपदेश और महापुरुषो के चरित्र कोई काम नही दे सकते। इनका उपयोग तभी हो सकता है, जब अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण किया जाए। गन्ने के बाहरी आवरण की तरह इन धर्मों पर जो सम्प्रदायो का आवरण छाया हुआ है, उनको भेद सकने की क्षमता पैदा की जाए। यदि ऐसी क्षमता नही होगी, तो बड़े-बड़े धार्मिक ग्रन्थो की भाषा का भार अपने दिमाग पर भले ही लाद लीजिए, सम्यक् ज्ञान का सच्चा आनन्द नही मिल सकता। पुराने ऋषियो ने धर्म के गूढ तत्वो को सुरक्षित रखने के लिए उसे किसी-न-किसी आवरण मे छुपाकर रखा है। ये सारे ग्रन्थ, महापुरुषो के जीवन चरित्र, रास-लीलाएँ, इत्यादि उसी तरह के आवरण हैं उनके अन्दर जो तत्व है, उसे पहचानने के लिए पारदर्शी दृष्टि होनी चाहिए। जब इस तरह हम जीवन और सृष्टि का विश्लेषण करेंगे, तब यह सहज ही समझ मे आ जाएगा कि यदि आत्मा अपने अन्तर को टटोलकर चले तो वह कर्म-बन्धनो से तथा सासारिक पीडाओ से मुक्त हो सकती है।

१२

पाप की बुनियाद : आत्म-विस्मृति

हम देखते है कि मनुष्य पाप मे प्रवृत्त होता है, दूसरो को कष्ट पहुँचाता है, तब प्रश्न होता है कि आखिर मनुष्य पाप क्यो करता है ? क्यो वह ऐसा काम करता है, जिससे किसी दूसरे को आँसू बहाने पडे ? यह एक प्रश्न है। हर धर्म, देश और सस्कृति को इस प्रश्न का उत्तर देना होगा। भारतीय दर्शन को भी इसका उत्तर देना होगा। और वह देता भी है। भारतीय दर्शन एक समष्टि दर्शन है। इस दर्शन ने मानव जीवन पर गहराई से विश्लेषण किया है। मानव जीवन के बीच यदि कोई स्वर्ग है, अथवा नरक है तो उन दोनो का यह दर्शन विश्लेषण करता है। मनुष्य के जीवन मे कहाँ तक मनुष्यत्व है और कहाँ तक पशुत्व है, इसकी भी जाँच भारतीय दर्शन करता है। इसी सिल-सिले मे उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर भी इस दर्शन ने दिया है।

आस्तिक-नास्तिक

जब मनुष्य को आत्म-विस्मृति का आवरण घेर लेता है, जब वह स्वय को भूल जाता है, तभी पाप मे प्रवृत्त होता है। अपने

आपको भूल जाना, अपने आत्म-स्वरूप का भान न रहना ही पापवृत्ति की बुनियाद है। जैन सस्कृति मे 'सम्यक् दृष्टि' और 'मिथ्या दृष्टि' ऐसे दो शब्द आते है। इसी तरह वैदिक दर्शन मे 'आस्तिक' और 'नास्तिक' शब्द प्रचलित है। दोनो के शब्द अलग-अलग क्षेत्रो मे प्रयुक्त भी हुए हैं। किन्तु दोनो का भाव एक ही है। आस्तिक कहिये या सम्यक् दृष्टि कहिये। इसी तरह नास्तिक कहिये या मिथ्या दृष्टि कहिये। दोनो का बुनियादी विचार एक है। सम्यक् दृष्टि और आस्तिक की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिसका हृदय श्रद्धालु है, आस्थावान है, जिसे मालूम है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, जो अनुभव करता है कि मैं शरीर नही, आत्मा हूं, जो भौतिक शरीर के जजाल मे खो नही गया है वह सम्यक्दृष्टि अथवा आस्तिक है। ऐसा व्यक्ति इन्द्रियो के मोह रूप जगल मे नही फँसता। इन्द्रियों का मोह-जाल बहुत बीहड है। इस जगल मे अनन्त आत्माएं खो गई हैं। मनुष्य और देवता आंख, कान, नाक, जीभ आदि की पकड मे खोये हुए हैं। किन्तु आस्तिक और सम्यक्दृष्टि इस जगल मे स्वय को भूलता नही।

"हुँ कोण छू क्या थी थयो, शु स्वरूप छे म्हारं खरु।
कोना सबधे वलगणा छे राखु के ये परिहरु॥"

गुजरात के एक सन्त ने कहा है—मैं कौन हूं? मेरा स्वरूप क्या है? इस तरह का आत्मचिंतन करने वाला ही सम्यक्दृष्टि और आस्तिक होता है। वह सोचता रहता है कि मै इस मनुष्य शरीर मे कहाँ से आया हूं? यह रूप मैंने कहा से प्राप्त किया?

ये जो-जो रूप दिखाई दे रहे हैं, क्या वे मेरे ही है ? मेरा वास्तविक रूप क्या है ? ये क्रोध, अभिमान, घृणा आदि के तूफान किसके सम्बन्ध मे आ रहे हैं ? दंभ, स्वार्थ, वासनाएँ इत्यादि का मूल मेरे अन्दर ही है या ये कोई अलग तत्त्व हैं ? ये अलग हैं तो इनको रखना चाहिए या इनका परिहार करना चाहिए ? इस तरह का पवित्र चिंतन नास्तिक या मिथ्यात्वी नही कर सकता। सम्यक्दृष्टि और आस्तिक इस तरह के चिंतन से अपने आपको सभालता रहता है। वह राख के ढेर मे छिपी अग्नि की चिनगारी को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है।

इस उपर्युक्त परिभाषा मे जो नही आते, जिन्हे इस तरह की आत्म-जिज्ञासा नही होती, जिनका मन दंभ, वासना आदि के जंगल मे खोया रहता है, जो अपनी आत्मा को भूल जाते हैं वे मिथ्यादृष्टि अथवा नास्तिक कहलाते हैं।

किसी ग्रन्थ-विशेष को मानने या न मानने से अथवा किसी धर्म-विशेष को मानने या न मानने से आस्तिक और नास्तिक नही होता। धर्म को अवश्य स्वीकार करना चाहिए, पर उसमे भी बँधना नही चाहिए। आदमी घर मे भी रहता है, जेल मे भी। दोनो एक ही तरह के मकान होते हैं। ईंट, चूने, पत्थर आदि से बनते है। पर दोनो मे एक मौलिक अन्तर है। घर मे रहते हुए भी किसी तरह के बन्धन का भार मन पर नही रहता। पर जेल मे आजादी समाप्त हो जाती है। इसीलिए जेल मे रहना कोई पसन्द नही करता। जेल मे कैदी रहते हैं, और घर मे स्वामी। इसी तरह भले ही किसी भी धर्म का अनुसरण करें,

पर इस तरह से करे, मानो घर मे रहते हो, आजाद रहते हो। एक आजाद पछी की तरह जब मरजी हो, चाहे जहाँ आ-जा सकते हो। धर्म को जेलखाना नहीं बनाना चाहिए। किसी धर्म की चारदीवारी मे बन्द हो जाना भारतीय मनीषियो को स्वीकार नही है।

बन्धन न हो

यह विचार हमे एक महासत्य के दर्शन कराता है। हम लोग अक्सर आस्तिक और नास्तिक अथवा सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के शब्दो मे बह जाते हैं और ऐसे जाल मे फँस जाते है, जो वास्तविकता से दूर होता है। न इधर के ही रहते हैं और न उधर के ही। त्रिशकु की तरह बीच मे लटक जाते हैं। इसलिए हम धर्म, भाषा, शास्त्र आदि मे जरूर रहे, किन्तु बन्द होकर नही, अपनी आत्मा को भूल कर नही। यदि मनुष्य को अपने आपकी याद हो और मालूम हो कि मैं कौन हूँ, मेरा कर्तव्य क्या है, तब तो मनुष्य आस्तिक है और यदि इसका भान न हो तो नास्तिक। इस परिभाषा के अनुसार जो नास्तिक होता है, पाप मे प्रवृत्त होता है। वह धर्म की मर्यादा को छोड देता है, वह मनुष्यत्व की सीमा को तोड देता है। उसकी भावनाओ मे पशुत्व उभर आता है। आगे चलकर यह पशुत्व ही राक्षसपन मे बदल जाता है। अतएव यह साफ जाहिर है कि पाप का मूल आत्म-विस्मृति है।

आस्तिक ससार भर के अन्यायो का मुकाबला करता है। उनसे सघर्ष करके उन्हे समाप्त करने की कोशिश करता है।

वह निर्भीक होता है। यह निर्भय अवस्था बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है। मनुष्य को जब डर और भय सताता है, तब वह भीगी बिल्ली बन जाता है। जब भय और आतंक आ घेरता है तब सहज ही आत्म-विस्मृति हो जाती है। वह डरपोक गीदड की तरह हो जाता है। इसी तरह कुछ लोग जाहिल भी होते हैं। निर्दय होते हैं। निर्भयता और निर्दयता मे बहुत अन्तर है। निर्दय आदमी भी अपने आप को भूल जाता है। वह क्रोध मे लाल होकर खूंखार भेडिया बन जाता है। कायरता और निर्दयता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जब किसी निर्दय, जाहिल को कोई दब्बू मिल जाता है तो वह उस पर टूट पडता है किन्तु जब उसे कोई उससे भी ताकतवर मिल जाता है तो वह भी कायर और दब्बू बन जाता है।

दूसरे के दुख से खुश होना, राक्षसपन का लक्षण है। किसी को अपनी तरफ से दुख देने के बाद भी जिन्हे ग्लानि नही होती, बल्कि जो अधिक खुश ही होते हैं तो समझना चाहिये कि वे मनुष्य नही, राक्षस ही हैं। जब मैदान मे लाश पडी रहती है तो दैत्य ही हँसते हैं। वहाँ मनुष्यता का कोई लक्षण नही बच पाता। वहाँ आत्म-विस्मृति का अखड साम्राज्य हो जाता है। मनुष्य उस समय अपने आप को, अपने सद्‌गुणो को भूलकर पैशाचिक वृत्तियो का शिकार हो जाता है। राक्षस जैसे आचरण करने पर मनुष्य ही राक्षस बन जाता है। इसी तरह मनुष्य जब पशु जैसे आचरण करता है तो वह पशु से भी नीची भूमिका मे चला जाता है। क्योकि पशु तो अपने

महज भाव मे पशु जैसा कार्य करते हैं, पर मनुष्य होकर भी यदि कोई पशुत्व का आचरण करता है तो वह कृत निश्चय के कारण पशु से भी बदतर हो जाता है।

अजातशत्रु अपने पिता को जेल मे डालकर दुःख देता है। जिस पिता ने आजातशत्रु को उछाल-उछाल कर, खिला-खिला कर पाला था, वह पिता अपने पुत्र की बदौलत लोहे के पिंजरे मे बन्द पडा खाने को भी मुँहताज हो जाता है। जिस मगध सम्राट बिम्बसार का तेज सारे भारतवर्ष मे फैला हुआ था, उसे अपने पुत्र के कारण कितना दुःख उठाना पडता है। इसका कारण भी आत्म-विस्मृति ही है। अजातशत्रु राज्य और सत्ता के अभिमान मे अपने आप को भूल जाता है। वह पावन पितृत्व के दर्शन नही कर पाता। मनुष्य जब स्वार्थ से पागल हो जाता है और आत्म-विस्मृति मे डूब जाता है, तब उसे दूसरे की चिन्ता करना तो दूर रहा, अपना पता ही नही रहता। इसी आत्म-विस्मृति के कारण आज भी माता-पिता के मधुर संबंध टूटते देखे जाते है। पति-पत्नी के सम्बन्ध भी विच्छेद होते देखे जाते हैं। स्वार्थ और आत्म-विस्मृति के कारण ही चन्द चादी के टुकडो के पीछे देश की महान् स्वतंत्रता को भी बेच दिया जाता रहा है।

मनुष्य की महिमा

किसी आदमी से पूछा जाय कि आप कौन हैं? तो वह कहेगा—मैं भारतीय हूं, रूसी हूं, अमेरिकन हू या कहेगा मैं हिन्दू हूं, मुसलमान हूं इत्यादि। पर मैं मनुष्य हू, यह वह याद नही

करता। यह कितनी आश्चर्य की बात है। किसी नारी का सतीत्व लूटा जा रहा है, उस समय उस नारी की रक्षा करने से पहले यदि कोई सोचे कि यह हिन्दू है या मुसलमान तो इसका अर्थ यही है कि वह मनुष्य नही है। उसे मानवता का भान नही है। इसी तरह यदि यह सोचा जाय कि यह आक्रमणकारी हिन्दू है या मुसलमान, तब भी इन्सानियत खत्म हो जाती है। वह नारी चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, मानव है और इसलिये हर इन्सान का कर्तव्य है कि स्वय की बहन या बेटी की इज्जत जिस प्रकार सुरक्षित रखने की कोशिश करता है, उसी प्रकार हर नारी के सतीत्व की रक्षा करे। गुन्डा भी चाहे कोई हो, वह गुन्डा है। न मुसलमान है और न हिन्दू। उसको धर्म मे नापना सबसे बडी नास्तिकता है। मनुष्यता का विचार ही आस्तिकता का विचार है। लोग अपनी जाति मे भले रहे, किन्तु जाति से भी अधिक मानवता को महत्व देना चाहिए। मनुष्यता पहली चीज है और हिन्दू मुसलमान आदि जातियाँ उसके बाद की। इसी तरह जैन, बौद्ध, वैष्णव या डाक्टर, वकील, व्यापारी आदि चीजें भी बाद मे आती हैं। मानवता की कीमत सम्प्रदायो के, जातियो के या देश के आधार पर नही नापी जा सकती। आज सब जगह हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन आदि के दर्शन हो सकते हैं, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, काग्रेसी आदि के दर्शन भी होते है, डाक्टर, वकील आदि भी दीख पडते हैं, पर मनुष्य के दर्शन कहाँ होते हैं। जाति, धर्म सम्प्रदाय, देश आदि के जगल मे मनुष्य खो गया है। वास्तव मे तो देश, पथ, धर्म आदि के आवरणो के अन्दर भी मनुष्यता प्रकाशित होती रहनी चाहिए।

व्यवसाय की दृष्टि से हर आदमी को कुछ न कुछ करना ही पडता है। किसी को डाक्टर बनाना पडता है, किसी को वकील बनाना पडता है, पर इस सब मे मनुष्यता का स्थान ऊपर रहना चाहिए। मान लीजिए कि कोई गरीब आदमी जिसके पास खाना तक नही हो, वह डाक्टर के पास आये तो उसे मुफ्त दवा देना मनुष्यता का तकाजा है। ऐसे ही कोई गरीब अन्याय से पीडित हो, तो सच्चे वकील को चाहिए कि मुफ्त परवी करके भी उसे अन्याय से बचाए। पर क्या आज ऐसा होता है? आज तो पैसे के लिए अपनी मनुष्यता को भी ताक पर रख दिया जाता है।

लानत है इस कानून पर

एक शहर मे मेरी एक वकील से मुलाकात थी। वे तत्व-चर्चा करने के लिए नित्य आते थे और बडी लम्बी-लम्बी बातें किया करते थे। उनकी प्रतिभा भी काफी अच्छी थी। एक दिन वे बहुत बिलम्ब मे आए। सब लोग चले गये थे। जैन-भवन का फाटक बन्द होने वाला था। फिर भी वे आये तो कुछ बातें हुई। विलम्ब से आने का कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि आज मुझे एक 'केस' जीतने के उपलक्ष मे पार्टी दी गई थी। यह पूछने पर कि वह पार्टी किसने और क्यो दी थी? वकील साहब ने जो कहानी सुनाई, उससे मै अचरज मे पड गया। उन्होने बताया कि एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति का खून कर दिया था। मै कातिल की तरफ का वकील था। मैने 'केस' को अदालत मे इस खूबी से पेश किया कि जिसके घर का

आदमी मारा गया था, उसी घर वालो पर उसके मारने का इल्जाम आ गया। भला, जो व्यक्ति रोज तत्त्वचर्चा मे भाग लेता था जिसे धर्म और शास्त्रो की बातो का काफी ज्ञान था, उस आदमी के हाथो ऐसा काम हो सकता है, ऐसी कल्पना भी नही की जा सकती। क्या यह कार्य मानवीय आस्था के विरुद्ध नही है ? मैंने उनसे कहा कि क्या आप इसी अधर्म की दावत खाकर आये हैं। जब आपको पता था कि सच्चा कातिल कौन है तो फिर इस तरह का जाल गूंथना क्या मानवता के अनुरूप है ? एक तो उसके परिवार का आदमी मरा ही, अब दूसरे मे उसको मारने का इल्जाम भी उसी के परिवार पर आया। तथा तीसरे मे उस परिवार मे एक निर्दोष इन्सान को फासी के तख्ते पर लटकना पडेगा। लानत है ऐसी वकालत को और लानत है ऐसे न्याय देने वाले कानून को। जो कानून और जो वकालत मनुष्य को अन्याय से बचाने के लिए पैदा हुई, वही मनुष्य का शोषण करने मे इस्तैमाल हो, यह कितना गलत है।

इस हालत मे लम्बी-लम्बी धर्म-चर्चाएँ केवल मनोरञ्जन मात्र हो जाती हैं। यदि धर्म-चर्चा का असर हो तो पाप-कर्म करने से पहले ग्लानि आनी चाहिए। पहले नही तो बाद मे तो अवश्य आनी चाहिए। किन्तु अब ऐसा युग आया है कि पाप करने के पहले भी ग्लानि नही होती और बाद मे भी नही होती, वरन् पाप करके उसकी प्रसन्नता मनाई जाती है तथा दावतें उडती हैं। यह सब इसीलिए होता है, क्योंकि आदमी अपने आपको भूल जाता है। उसे आत्म-गुणो की याद नही रहती।

मनुष्य या मिनिस्टर

अखबार मे एक खबर पढने को मिली कि हैदराबाद मे एक जरूरी 'केस' लेकर एक आदमी डाक्टर के पास हास्पिटल पहुंचा। आगन्तुक को दो घण्टे बैठने के बाद भी डाक्टर की ओर से कोई आश्वासन न मिला। 'केस' खतरनाक था। किन्तु डाक्टर ने लापरवाही की। जब किसी ने बताया कि प्रतीक्षा करने वाले ससद सदस्य है तो डाक्टर के शरीर मे बिजली की सी स्फूर्ति आ गई। डाक्टर ने बडी मुस्तेदी से आगन्तुक रोगी को देखा और तत्परता से चिकित्सा की। यह उदाहरण मनुष्यता के मुँह पर एक करारा तमाचा है। हमारी दृष्टि मे किसी भी मनुष्य का मनुष्य के नाते कोई महत्व नही रह गया है। वह मिनिस्टर हो, ससद सदस्य हो, धनी हो, तभी उसका मूल्य है। एक पीडित इन्सान खतरनाक बीमारी से ग्रसित होकर हास्पिटल मे है, पर इन्सान के नाते उसकी कोई पूछ नही! सम्भव है थोडी देर और प्रतीक्षा करने पर वह लाश के रूप मे ही नजर आता। जब यह कहा गया कि वह ससद सदस्य है तो उसकी पूछ हो गई। यह कैसी मूर्खता है। इसका सीधा-सा मतलब यही है कि डाक्टर अपना कर्तव्य निभाना नही जानता। जब वह दूसरे को मनुष्य के रूप मे नही पहचानता तो स्वय को भी मनुष्य के रूप मे कैसे पहचानेगा? जब वह दूसरे की मनुष्यता का तिरस्कार कर सकता है तो वह अपनी मनुष्यता का आदर कैसे करेगा? जब वह मनुष्य को जाति, पन्थ या व्यवसाय के रूप मे देखता है तो उसने जाति, पन्थ और व्यवसाय

को ही देखा। उसे मनुष्य की पवित्र मूर्ति नही दीख पडी। जो मनुष्य को नही देख सकता, वह अपने आपको कैसे देख सकता है? यदि उसने अपने आपको सही रूप मे देखा होता तो ऐसी स्थिति कभी न आती। इसलिए मनुष्य स्वय को पहचाने। और इस माध्यम से समस्त विश्व को पहचाने। यदि मनुष्य स्वय अच्छा बन जाता है तो सारा समाज और विश्व अच्छा बन जाता है।

धर्म की रक्षा के नारो से धर्म नही बचेगा। अपने आपको धार्मिक बनाने से ही धर्म बचेगा। विक्रम की चौथी शताब्दी मे आचार्य समन्तभद्र हुए। वे दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होने कहा कि लोग धर्म की रक्षा तो करना चाहते है, पर धर्म का पालन करने वालो की रक्षा करना नही चाहते। तब भला धर्म का पालन करने वालो के अभाव मे धर्म कैसे टिकेगा? धर्म का आधार मनुष्य है। यदि मनुष्य की रक्षा नहीं हुई तो धर्म क्या आकाश मे झूलता हुआ मिलेगा? इसलिए मनुष्य को मनुष्य के रूप मे पहचानना तथा इस रूप मे अपने आपको पहचानना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है।

जड को सींचो

एक अच्छे परिवार की लडकी पढ-लिखकर होशियार हुई। विवाह होने के बाद ससुराल गई और कुछ समय वहाँ रहकर वापस अपने माँ-बाप के घर आई। घर पर उसे माँ-बहने और सखियाँ ससुराल के हाल पूछने लगी।

'तुम्हारी सास कैसी है ?'

'मैं अच्छी हूं ।'

'तुम्हारे श्वसुर कैसे हैं ?' सब ने खीझकर पूछा—

उत्तर मिला —'मैं अच्छी हूं ।'

सब तग आ गयी । कहने लगी कि "हम यह तो अच्छी तरह जानती हैं कि तुम अच्छी हो । हमे अपनी ससुराल के हाल बताओ ।"

लडकी ने कहा—"जो स्वय अच्छा है, उसके लिए सारा ससार अच्छा है । और जो स्वय बुरा है, उसके लिए सारा ससार बुरा है । इसलिए मेरे ससुराल के सभी लोग बहुत अच्छे है ।" यह कितनी अच्छी उक्ति है । वास्तव मे ससार तो एक दर्पण हैं । उसके सामने जैसा मुंह आयेगा, वैसे ही दर्शन होंगे । यदि इधर कोई घूसा तानेगा, तो दर्पण मे भी घूसा तनेगा । और यदि कोई इधर मुंह काला कर लेगा तो उधर भी मुंह काला ही दीख पडेगा । इसी तरह से इस ससार मे हमारे ही मन का प्रतिबिम्ब पडता है । इसलिए उस लडकी ने बडे पते की बात कही । यदि वह स्वय अच्छी है तो उसके लिए झोपडी भी महल है । और यदि वह स्वय बुरी है तो महल भी झोपडी की तरह वीरान हो जायगा ।

इस कथन का सार इतना ही है कि दुनिया में जो कुछ है, मनुष्य स्वय है । इसलिए स्वय को पहचानना और ठीक रखना बहुत आवश्यक है । यही जीवन वट की जड है । जड को सीचना चाहिए । पत्तो को सीचने से काम नही चलेगा । पत्तो को सीचने

से वृक्ष नही पनपेगा। जड को पानी मिलने से सारा वृक्ष पल्लवित हो जायगा। इसी प्रकार यदि मनुष्य और मनुष्यता सुरक्षित रही तो सारे धर्म और सारी जातियाँ हरी-भरी रहेगी। यदि मनुष्यता का मूल ही सूख गया तो सब कुछ सूख जायगा, स्वाहा हो जायगा। आज मन्दिर, चर्च, स्थानक, उपाश्रय आदि को खूब सीचा जा रहा है। फिर भी जीवन दुखी है। इसका कारण यही है कि पत्तो को सीचने का काम हो रहा है। अतएव मेरा कहना है कि पत्तो की ओर नही, वृक्ष के मूल की ओर जाओ। मनुष्य और मनुष्यता की रक्षा करो। अपनी आत्मा को याद रखो और उसे जगाओ। यदि आत्म-विस्मृति हो गई तो मिथ्यात्व आ जायगा, नास्तिकता आ जायेगी। यह याद रखो कि मैं कांटा बनकर नही, फूल बनकर आया हूं। स्वय सुरभित होने और विश्व को भी सुरभित करने आया हूं। यदि इतना याद रहेगा तो आत्म-विस्मृति नही होगी। और यदि आत्म-विस्मृति नही होगी तो मनुष्य पाप मे प्रवृत्त नही होगा।



१३

जीवन का आधार : भक्तियोग

भारतीय साधना का प्रवाह तीन धाराओ मे वह रहा है। जिस प्रकार गंगा, यमुना व सरस्वती के सगम से तीर्थराज प्रयाग बन गया है, उसी प्रकार भक्तियोग ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के सगम के कारण भारतीय चिन्तन का अपना एक अलौकिक स्थान बन गया है। ये तीनो ही धाराएँ बृहद्-प्रदेश मे जब तक सतुलित रूप से नही बहेंगी, तब तक मानव का पूर्ण विकास नही होगा। इन तीनो मे प्राथमिकता भक्तियोग को दी गई है। भक्तियोग के अभाव मे ज्ञान योग तथा कर्मयोग की धारा तेजी के साथ प्रवाहित नही हो सकती। सर्वप्रथम प्रभु के प्रति हृदय मे श्रद्धा होनी चाहिए, सत्य के प्रति विश्वास होना चाहिए। जब तक यह श्रद्धा और विश्वास पैदा नही होगा, जीवन के प्रति निष्ठा नही होगी,

ज्ञान का कचरा दिमाग मे भर लेना एक वात है और मस्तिष्क मे ही ज्ञान एव सत्य की अनुभूति पैदा करना दूसरी वात है। श्रद्धा और विश्वास के विना न कर्मयोग का आनन्द मिलेगा, न ज्ञानयोग का। ज्ञान और कर्म तभी महत्व प्राप्त करते हैं, जब उन्हे भक्ति का आधार मिलता है। जब साधक अपने व्यक्तित्व को भुला देता है, अपने आपको प्रभु के चरणो मे इस तरह लीन कर देता है, मानो वह प्रभुमय ही वन गया हो, तभी वह सच्चा भक्त वन सकता है।

आत्मा और कर्म—चन्दन और साप

आचार्य सिद्धसेन दो हजार वर्ष पूर्व हुए। आज वे स्थूल शरीर के रूप मे हमारे सामने विद्यमान नही है। स्थूल शरीर तो वनता-विगडता ही रहता है। इसलिए वह हजारो वर्ष तक रह भी नही सकता। किन्तु उनका ज्ञान, उनकी भक्ति और उनका चिन्तन हमारे लिए इस समय भी उपलब्ध है। ये चीजे चाहे जितने वर्ष वीत जाएँ, पर इस दुनिया से मिट नही सकती। उन्होने अपने आपको प्रभु के चरणो मे अर्पित कर दिया था। इस समर्पण के वाद उनके सारे सकट, दु ख, क्लेश एक ही झटके मे छिन्न-भिन्न हो गये। उन्होने कहा —

> "सद्यो भुजगममया इव मध्य-भाग,
> मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य"

अर्थात् पहाडो मे घिरे हुए सूने जगल मे चन्दन का वन है। चन्दन की मोहक सुगन्ध से आकर्षित होकर सापो के दल के दल

चन्दन के वृक्ष को घेरे रहते हैं। अमृत के समान ससार को शाति देने वाले चन्दन के वृक्षो को उन सापो ने घेर रखा है, जिनके शरीर विषयुक्त है और जो ससार को मृत्यु देते हैं। लेकिन जब वन-मयूर वृक्ष पर आकर बैठ जाता है, तब समस्त सापो के होश उडने लगते है और वे धीरे-धीरे वहाँ से खिसकने लगते हैं। मयूर के आने पर सारे सापो का भागना शुरू हो जाता है। इसी तरह आत्मा मे जो कर्मों के बन्धन हैं, वे सापो के समान है। इन सापो की सख्या एक-दो नही, बल्कि बहुत अधिक है। क्रोध, लोभ, लालच, अहकार, वासना आदि हजार-हजार सापो ने इस आत्मा रूपी चन्दन के वृक्ष को घेर रखा है। घेर भी इस तरह रखा है कि चारो ओर सिर्फ साप ही साप दिखाई पडते हैं। यह मालूम भी नही होता कि यहाँ चन्दन का वृक्ष है भी या नही। सापो का यह बधन हजार या लाख वर्ष से नही, अपितु अनतकाल से है। इन सापो की विषमयी फूकार से सारा वातावरण भी विषाक्त बन रहा है। यह आत्मा-रूपी चन्दन अपने अमृततत्वो का लाभ समाज या ससार को देने मे अक्षम हो रहा है पर ये साप तभी तक रहेगे, जब तक प्रभु की भक्ति का मयूर नही आ जाता। जब प्रभु का नाम ये साप सुन लेंगे, तब अपने आप गायब हो जायेंगे। जब हृदय भक्ति से तन्मय होकर प्रभु का स्मरण करने लगेगा और जब उस भक्ति की आवाज उन सापो तक पहुँचेगी, तब अपने आप ही इन सापो को अपने विषमय वातावरण के साथ यहाँ से कोसो दूर खिसक जाना पडेगा।

है ? प्रभु शक्ति के प्रति कितना विश्वास है ? यह उपरोक्त कथन से जाहिर होता है। उन्होने समस्त विकारो से मुक्त होने का बहुत ही सीधा सा रास्ता बता दिया है। लोग शिकायत करते है कि उन्हे क्रोध बहुत सताता है। उनके चारो ओर विकार-वासनाएं घिरी रहती है। उनकी शिकायत दूर करने का एकमेव मार्ग आचार्य सिद्धसेन ने बता दिया। ये विकार-वासनाएँ साप के समान हैं। इनको भगाने के लिए भक्ति रूपी मयूर को बुलाना ही पडेगा। जब तक मन-मन्दिर प्रभु की भक्ति से सूना है, जब तक जीवन प्रभु की सेवा मे अर्पित नही हुआ है, जब तक वाणी निष्ठा पूर्वक प्रभु का नाम नही लेती है, तब तक विषय-वासनाओ ; बन्धन टूट नही सकते। जब सच्ची भक्ति का उदय होगा, तब ïपय-वासनाएं उसी तरह खत्म हो जायेगी, जैसे गधे के सिर सीग। यह अनुभव केवल आचार्य सिद्धसेन का ही नही है ; ह सिद्धान्त उन हजारो-लाखो भक्तो द्वारा परखा हुआ है, ान्होने प्रभु के चरणो मे अपने आपको लीन कर दिया।

तालाब जल से भरा होता है, लेकिन उस पर काई जम ाती है। वह काई सम्पूर्ण तालाब को घेर लेती है। जिधर से ो देखो, उधर काई ही काई नजर आती है। पानी का रूप ाधर भी और कही भी नजर नही आता। लेकिन यदि आप क पत्थर उठाकर उस तालाब मे फेक दं, तो जहाँ पत्थर पडेगा, हाँ की काई टूट जायेगी। फिर वहाँ चमकता हुआ पानी नजर ायेगा। यदि निरन्तर पत्थर पर पत्थर फेंके जाये तो सारी ाई फट जायगी और वह धीरे-धीरे एक कोने मे सिमटती चली

जायगी। फिर तालाव का स्वच्छ, निर्मल जल चमकता हुआ दिखाई देगा। इसी तरह आत्मा के अन्दर साधना का निर्मल तालाव भरा हुआ है, सत्य-प्रेम, करुणा का जल भरा हुआ है। सभी आत्माओ के अन्दर समान रूप से यह स्वच्छ जल भरा रहता है। पापी से पापी और दुष्ट से दुष्ट के मन मे भी सद्भाव का जल अवश्य रहता है। कोई भी आत्मा यदि इस जल से खाली हो जाय, तो वह अपने स्वधर्म को ही छोड बैठेगी, जो कि सम्भव नही है। आवश्यकता इसी बात की है कि उस जल को प्रगट करने के लिए भक्ति रूपी पत्थर तालाब मे फेका जाय और छाई हुई काई को तोडा जाय।

सभी आत्माएँ पवित्र हैं

राजा परदेशी के हाथ निरन्तर खून से भरे रहते थे। वह नितान्त हिंसावादी था। वह नास्तिक था। आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व उसे मान्य नही था। उसने धर्म, कर्म, भक्ति आदि को कभी स्वीकार नही किया। वह निरन्तर भोग-विलास मे डूबा रहने वाला था। शरीर से परे या दुनिया से आगे भी कोई चीज है—ऐसा वह नही समझता था। अहिंसा, सत्य, विश्वास इत्यादि बातो को भी वह ढकोसला मात्र कहता था। क्योकि जब आत्मा पर ही विश्वास नही रहा, तब सत्य अहिंसा, प्रेम आदि की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? और स्वर्ग-नरक, ईश्वर आदि को भी मानने की जरूरत ही क्या रह जाती है? लेकिन उसकी आत्मा मे भी भगवद् शक्ति का अंश था। सत्य प्रेम, करुणा की धारा छिपी हुई थी। यद्यपि भोग कहते

ये कि बडे से बडे पापी का कल्याण हो सकता है, किन्तु इस महापापी राजा परदेशी का कल्याण सम्भव नही है। इसके बावजूद एक महापुरुष की आंख उस पर पडी। पाप के गहन अन्धकार मे भी उन्हे प्रकाश की क्षीण रेखा नजर आयी। उन्होंने देखा कि ससार की वासनाएँ भले ही उस पर छाई हुई हैं तथा नास्तिकता के भावो ने भले ही उसे घेर रखा है किन्तु इन सब के नीचे उसी दिव्य प्रेम का अश छुपा है, जो इसका कल्याण कर सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि उसे प्रगट करने का प्रयत्न किया जाय। उन्होने राजा परदेशी को उपदेश दिया। उस उपदेश का जादू की तरह प्रभाव हुआ। मूर्च्छित अवस्था मे सोया हुआ प्रेम एव आस्तिकता का भाव अगडाइयाँ लेकर राजा के हृदय मे जाग उठा। यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि ससार की प्रत्येक आत्मा मे समस्त सद्गुण मौजूद हैं। वे या तो दबे हुए हैं या मूर्च्छित अवस्था मे हैं। उन पर पापो की काई जमी हुई है। स्थूल दृष्टि से देखने वाले को केवल काई-ही-काई नजर आती है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि वाला ज्ञानी काई के अधोभाग मे स्थित अत्यन्त शीतल स्वच्छ, निर्मल जल देख लेता है। ज्ञानी काई को हटाने का प्रयत्न करता है और स्वच्छ जल प्राप्त कर लेता है।

निराशा क्या ?

मैं कौन हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर हर आदमी चाहता है। लेकिन मैं कौन हूँ ? इसका पता तभी चलेगा, जब परमात्मा का पता लग जायगा। जब परमात्मा का पता लग जायगा तो

अपने आपका भी पता लग जायगा। जब अपने आपका पता लग जायगा, तब भक्ति का आरम्भ होगा। भक्तियोग पहले द्वैत की धारा में रहेगा, फिर अद्वैत की धारा में बदल जायगा। कुछ लोग कर्म-बन्धनों की भयानकता से डरकर निराश हो जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि हम तो जले हुए कोयले की भाँति है। जैसे लकड़ी का कोयला काला होता है उससे लकीर खींचिये तो लकीर भी काली आती है, उससे हाथ भी काला होता है, वस्त्र भी काले ही होते हैं, उनमे कालिमा के अतिरिक्त कुछ है ही नही, उसे सफेद बनाने के लिए पानी से धोया जाय तो पानी भी काला हो जायगा। चाहे जितना साबुन लगाकर धोया जाय, पर उसका कालापन समाप्त नही होगा, वैसे ही कुछ आत्माएँ कोयले की तरह काली है। उन्हे कितना ही ज्ञान दीजिये, किन्तु वहां कभी भी सत्य का प्रकाश नही चमकेगा। इस प्रकार वे हताश और निराश हो जाते है। वे कहते है कि एक आदमी क्रोधी है तो वह जहां रहेगा, वहां दूसरे लोगो मे भी क्रोध ही उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार यदि कोई लोभी है, कजूस है, तो वह स्वय तो लोभी रहेगा ही, साथ ही आस-पास के वातावरण मे भी लोभ और कजूसी की छाया डाल देगा। उसके पुत्र तथा परिवार के लोग भी, उसके मित्र तथा दूसरे साथी भी लोभ और कजूसी के प्रभाव मे आ जाएंगे। ऐसे ही विषय-वासना के दास जहां कही भी जाते है अपनी कालिमा के दाग लगा ही देते है। इस तरह हम देखते है कि जो आत्माएँ विकारमय हो गई है, वे कोयले की तरह अपना कुप्रभाव बिखेरती है, और अपने सम्पर्क मे आने वाली हर चीज को प्रभावित कर देती है।

हाँ, तो मैं उन निराश लोगो से कहना चाहता हूँ कि यदि आपकी आत्मा कोयले जैसी हो गई है तो उसे आप साधना की भट्टी मे डाल दीजिए। वह कोयला वहाँ अपनी कालिमा छोड कर अगार बन जायगा। फिर सारे कर्म-बधनो को जला डालेगा। इसमे डरने की क्या बात है ? साधना और भक्ति के सपर्क मे आकर काले से काला कोयला भी जलता हुआ अगार बन जाय, इसमे आश्चर्य की बात नही है। कोयला उन चीजो पर ही असर करता है, जो उससे अधिक सौम्य है। पर वह वहाँ कमजोर पड जायगा, जहाँ उससे भी अधिक तीव्रता उसे मिलेगी। आत्मा जब भगवान के सम्पर्क मे रहेगी, उनकी दिव्यशक्ति की छाया मे चलेगी, तब उसमे प्रकाश चमकेगा ही। फिर जीवन का कण-कण अगारे की तरह जाज्वल्यमान हो जायगा। आत्मा कोयले का रूप तभी धारण करेगी, जब भक्ति रूपी अग्नि से दूर हो जायगी। ससार की जब ठडी बौछारे आती है, वासनाओ की ठडी हवा चलती है, तब आत्मा अपने जाज्वल्यमान स्वभाव को छोडकर ठडी होने लगती है और कोयले का रूप धारण करने लगती है। यदि उसे वापस जाज्वल्यमान बनाना हो तो यह जरूरी है कि अग्नि के साथ फिर से सम्बन्ध जोडा जाय।

श्रीमद् राजचन्द्र की भक्ति

भगवद्भक्ति का स्वरूप क्या है ? क्या रात-दिन हाथ मे माला रखने से ही भक्ति हो जाती है ? क्या मन्दिर मे ही भगवान की भक्ति हो सकती है ? ऐसे भक्तो को हम देखते है जो मन्दिर मे तो अत्यन्त विनम्र और सात्विकता की मूर्ति बने रहते है,

लेकिन मन्दिर की देहरी से बाहर कदम रखते ही उनके जीवन का तौर-तरीका बदल जाता है। फिर तो ऐसा मालूम पडता है मानो, उनका भगवद् चिन्तन के साथ कभी कोई सपर्क ही नही रहा हो। भगवान की भक्ति का सबध केवल अमुक प्रकार की क्रियाओ के साथ बँधा हुआ नही है। भक्ति का दर्शन जीवन की प्रत्येक क्रिया मे होना चाहिए। छोटे से छोटा और बडे से बडा काम करते समय हृदय मे भक्ति का भाव रहना चाहिए। जिस काम को हम करने जा रहे हैं, वह यदि अच्छा काम है, तो उस काम को ही भगवान की पूजा माननी चाहिए। यदि प्रभु की भक्ति का यह प्रकाश जीवन मे समा गया तो कही भी जाइए, घर मे, दूकान मे, बाजार मे—कुछ भी कीजिए, जीवन से और कर्म से भक्ति अपने आप टपकेगी। यदि धर्म-स्थान मे भक्ति टपकती हो और घर मे क्रोध टपकता हो, दूकान मे लोभ टपकता हो तो वह भक्ति नही, भक्ति का दिखावा ही कहा जायगा, ढोग ही कहा जायगा।

श्रीमद् राजचद्र को हम सब पहचानते हैं। वे गुजरात के एक यशस्वी व्यापारी थे। जवाहिरात का उनका व्यापार था। उस व्यापार मे उनके जीवन की साधना का दर्शन होता था। वे व्यापार मे भी पूर्ण सत्य और ईमानदारी का पालन करते थे। वे आने वाले ग्राहक का हृदय से स्वागत करते थे। उसके साथ सच्ची और एक तरह की बात करते थे। कभी कुछ कहना, कभी कुछ कहना—इस तरह की भावनाव वाली दुतरफी बाते उनमे नही होती थीं। वे कहते थे कि व्यापारी को

भ्रमर जैसा वर्ताव करना चाहिए। जैसे भ्रमर फूल पर जाता है, थोडा सा रस लेकर उड जाता है, उसमे भ्रमर का भी काम बन जाता है और फूल को भी कष्ट नही होता। उसके बैठने से फूल की किसी कोमल कली मे छेद नही होता। वह भ्रमर दूसरे को पीडा न पहुँचाते हुए अपने को तृप्त कर लेता है। इसी तरह व्यापार मे भी उतना ही हिस्सा व्यापारी को लेना चाहिए, जितने का वह सही अर्थों मे अधिकारी है और जिसे समाज भी उचित मानता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि श्रीमद् राजचन्द्र सच्चे भक्त थे और उनका सारा जीवन भक्तियोग से पूर्ण था। एक समय की बात है। किसी व्यापारी के साथ श्रीमद् राजचन्द्र ने जवाहिरात का सौदा किया। अमुक अवधि के बाद लेन-देन करना तय हुआ था। लिखित रूप से उन्होंने भाव तय किये थे कि उस अमुक भाव से इतना जवाहिरात लिया जायगा। जब निश्चित समय आया, तब जवाहिरातो के भावो मे जमीन-आसमान का अन्तर हो गया। इस अन्तर के कारण श्रीमद् राजचन्द्र को लगभग एक लाख रुपये का मुनाफा होता था और उस देने वाले व्यापारी को घाटा। बेचारे उस व्यापारी के तो होश-हवाश ही गायब हो रहे थे। वह उदास और परेशान सा होकर श्रीमद् राजचन्द्र के पास आया। उसने बाजार की हालत बताई और कहा कि यदि इस हालत मे हमारा सौदा अभी पुराने वादे के अनुसार होगा तो मैं करीब-करीब मिट ही जाऊँगा। इसलिए आपसे अनुरोध है कि आप मुझे थोडे समय की अवधि और दें। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि उस अवधि मे जिस किसी

भी तरह से वायदा पूरा करूँगा। श्रीमद् राजचन्द्र चाहते तो उसी समय अपने सौदे के अनुसार रुपये वसूल कर सकते थे। लेकिन उनके हृदय मे सच्ची भक्ति का साम्राज्य था। उन्होने व्यापारी से सौदे सबधी कागजात लिए और वही फाडकर उसे शोषण की चक्की मे पीसने से मुक्त कर दिया। व्यापारी आश्चर्य-चकित रह गया। ऐसा तो कोई नही करता। व्यापार धर्म की दृष्टि से यह उचित भी है कि वे अपने सौदे के अनुसार मुझ से रुपये वसूल करें। कितनी महान् है उनकी आत्मा, जो इस व्यापार मे भी अध्यात्म को नही भूलती। व्यापारी गद्‌गद हो गया।

व्यापार मे भी किस तरह भक्तियोग निभ सकता है तथा मधुकरी वृत्ति से काम चलाया जा सकता है, इसका अनूठा उदाहरण श्रीमद् राजचन्द्र ने प्रस्तुत किया। भगवान महावीर ने मधुकरी वृत्ति का उपदेश केवल साधु के लिए ही नही, बल्कि गृहस्थ के लिए भी दिया है। गृहस्थ को भी चाहिए कि वह समाज से उतना ही ले, जितना उसके लिए अनिवार्य हो और जिससे समाज को किसी तरह का कष्ट न हो। यदि समाज मे हजारो-लाखो नगे रहे, भूखे रहे और आप दावते उडायेंगे, सदूको मे कपडे भर-भर रखे, तिजोरियो मे रुपयो के ढेर लगाये तो यह अन्याय है। समाज के हजारो-लाखो लोग फुट-पाथ पर सोये, जानवर की तरह सर्दी, गर्मी वर्षा मे दुःख भोगे और आप एअर-कण्डीशन की अट्टालिकाओ मे आराम फरमाये—यह शोषण है, यह अधम है, यह भक्तिमार्ग के विरुद्ध जाने का रास्ता है। आपको समाज से उतना ही लेने का हक है जितना आपके लिए अनि-

वाय है और जिससे समाज को कोई कष्ट न हो। इस तरह हमे भक्तियोग का सच्चा अर्थ समझने की कोशिश करनी चाहिए। यदि उसे नही समझेंगे और केवल धर्मस्थान मे आना, पूजा-पाठ करना, हाथ मे माला रखना आदि मे ही लगे रहेंगे तो उसका कोई अर्थ नही रह जायगा। यह भक्तियोग ही जीवन की पवित्रता को सुरक्षित रखकर हमे परमात्म तत्व के साथ एकीभूत कर सकता है। यह भक्तियोग ही ज्ञानयोग तथा कर्मयोग की पूर्व भूमिका है। इस भक्तियोग के सधने से ही ज्ञान और कर्म फलदायी होंगे।



१४

बाह्य और आन्तर

जब तक चरित्र-बल उत्पन्न नही होगा और आन्तरिक जीवन मे उल्लास और भावना की जागृति नही होगी, तब तक कोई भी नियम जीवन मे गति नही दे सकता। वह अन्त स्फूर्ति जो पैदा होनी चाहिए, नही हो सकेगी और उस व्रत या प्रतिज्ञा मे जो प्रकाश और चमक आनी चाहिए, नही आ सकेगी।

प्राय देखते है कि नियम तो ले लिया है, व्रत भी अगीकार कर लिया है, प्रतिज्ञा भी ग्रहण करली है, और सब कुछ हो गया है। किन्तु यह सब होने पर भी ऐसा मालूम होता है कि कुछ भी नही हुआ। इसका अर्थ यह है कि हम चलते हुए तो दिखाई देते हैं किन्तु जब अपनी गति को नापना चाहते हैं, तो एक इञ्च भी गति बढती हुई दिखाई नही देती।

साधु भी चलता है और गृहस्थ भी चलता है, और निरन्तर पचास-साठ वर्षो तक चलना जारी रहता है। किन्तु जब इतने लम्बे काल की गति को नापते है और विचारो की दृष्टि से ठीक तरह समझना चाहते है तो ऐसा मालूम नही होता कि हम कुछ चले भी है। जीवन मे कोई विकास और प्रगति हुई दिखाई नही देती।

आखिर इसका मूल कारण क्या है? हमे इस प्रश्न पर गम्भीर-भाव से विचार करना चाहिए।

वात यह कि एक होता है वाह्य आचार और दूसरा होता है आन्तरिक आचार। जैन धर्म ने जब इस प्रकार आचार की व्याख्या की, तो मानव के अन्तर जीवन और वाह्य जीवन को ध्यान मे रख कर की। मनुष्य का वाह्य जीवन आप सबके सामने है, अत उसे अधिक व्याख्या की आवश्यकता नही है। हाँ, अन्तर्जीवन मानव का निगूढतम भाग है, जिसकी जानकारी साधक के लिए आवश्यक है। अन्तर्जीवन अपने इस दृश्य पिण्ड की आड मे अदृश्य हुआ, छिपा हुआ है और वही हजारो भावो की सृष्टि वनाता है और विगाडता है। सृष्टि और प्रलय का उसका यह व्यापार वाहर दिखाई नही देता।

हाँ, तो इस आन्तरिक जगत् मे जब तक साधना की भावना नही पनपती और ग्रहण किए हुए व्रत या नियम के लिए ठीक तरह चारित्र का वल उत्पन्न नही होता, वाहर के व्रतो और नियमो का क्या मूल्य है ? वाहर के व्रत और नियम तो आन्त-रिक आचार की रक्षा के लिए हैं। अन्दर की रक्षा के लिए चहारदीवारी है।

अपने आप मे जो दीवरें खडी है, वे मिट्टी और पत्थर के रूप मे खडी है। यदि उनके अन्दर कुछ नही है, रिक्तता है, कोई व्यक्ति नही है केवल दीवारे है तो उनका क्या मूल्य है ? दीवारो का मूल्य तभी है जव वहाँ सम्पत्ति विखरी पडी हो। और आदमियो की चहल-पहल हो। उनकी रक्षा के लिए ही तो दीवारे खडी की जाती है। और दरवाजो पर ताले लगाए जाते है ? यही उन दीवारो की सार्थकता है।

